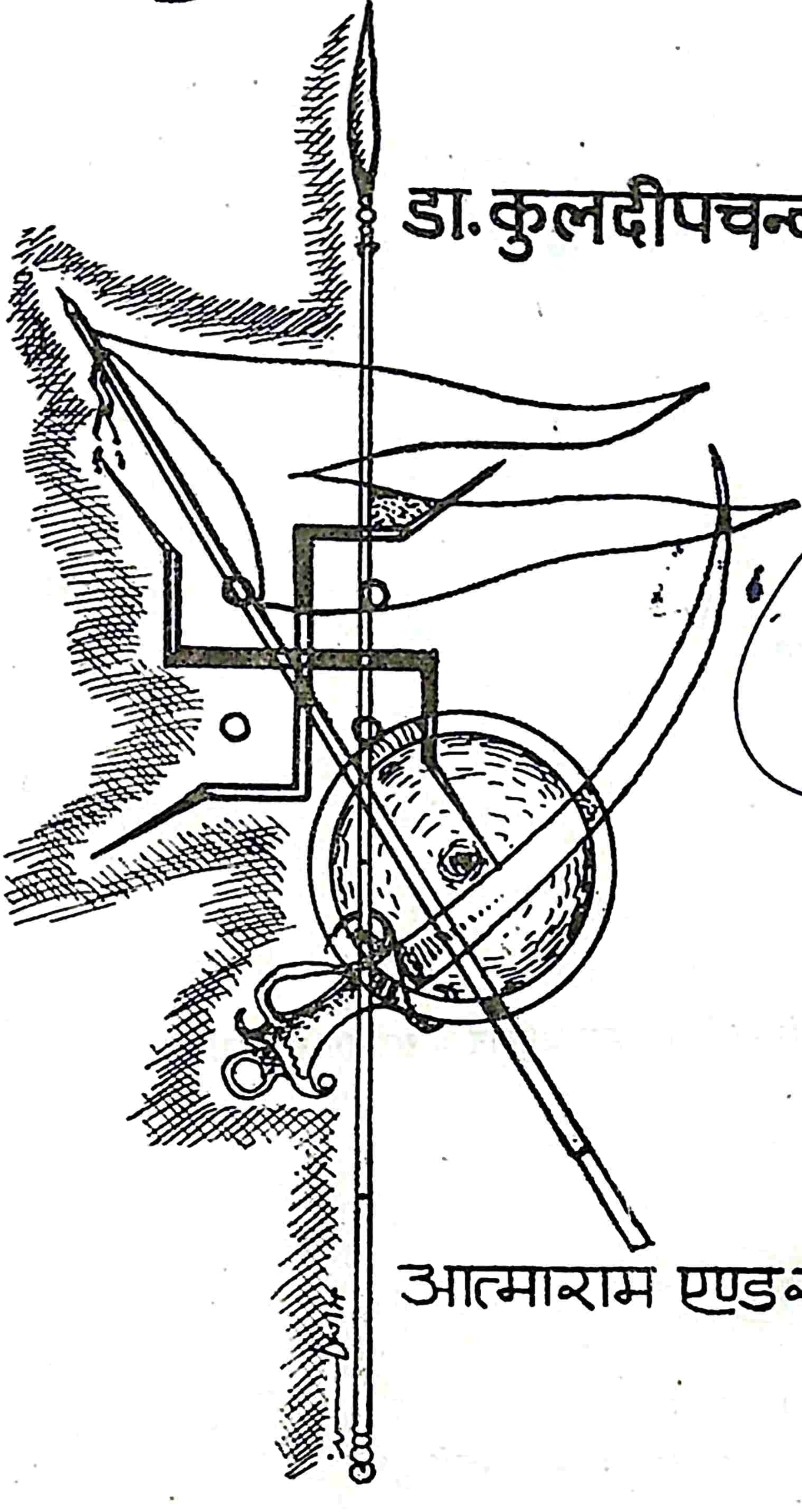
गुरु गोविंद सिंह : व्यक्तित्व एवं कृतित्व



डा. कुलदीपचन्द अग्निहोत्री

आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली

प्रकाशक :
आत्माराम एण्ड संस
कश्मीरी गेट, दिल्ली-११०००६

शाखा :
17 अशोक मार्ग, लखनऊ

संस्करण : १९८०

मूल्य : बीस रुपये

भाषा विभाग, पंजाब के प्रकाशन अनुदान के सहयोग से प्रकाशित

मुद्रक :
आर० के० भारद्वाज प्रिंटर्स,
शिवाजी पार्क, बाबरपुर रोड, शाहदरा दिल्ली-३२,

पुरोवाक्

हिन्दुस्थान् अनेक शताब्दियों तक पराधीनता के पाश में आवद्ध रहा है। काल के इस दुर्भाग्यपूर्ण खण्ड में भारतीयों को दोहरी मार सहनी पड़ी है— राजनैतिक स्तर पर भी और सांस्कृतिक स्तर पर भी। राजनैतिक पराजय को अपने यहां के व्यक्ति व समाज ने कभी महत्व नहीं दिया। 'कोऊ नृप होऊ हमें का हानि'···चाहे तुलसी ने वाद में कहा पर यह भावना हिन्दू समाज में आदि काल से विद्यमान थी। लेकिन जव जव किसी ने भारत की संस्कृति को क्षत-विक्षत करने का कुप्रयास किया, सारा राष्ट्र असाधारण रूप से सुसंगठित होकर प्रतिकार के लिए तैयार हो गया। गुरु नानक देव जी से लेकर गुरु गोविन्दसिंह जी तक की लम्बी यात्रा की यही मूल चेतना है। राजनैतिक रूप से तो गुरु नानक जी के काल खण्ड में भी हिन्दुस्थान पराधीन था। परन्तु गुरु जी ने कुछ एक अपवादों को छोड़कर कहीं भी विजातीय चुनौती को राजनैतिक धरातल पर नहीं स्वीकारा। उनका दर्शन, चिन्तन, मन्थन, आध्यात्मिक क्षेत्र की पूंजी है। परन्तु गुरु गोविन्दसिंह जी तक आते आते काल का चक्र वहुत आगे निकल चुका था। औरंगजेव सत्तारूढ़ तो था ही साथ ही उसने भारतीय संस्कृति व धर्म पर चोट करना प्रारम्भ किया और उसका जो परिणाम निकला वह स्वाभाविक ही था। गुरु नानक देव का आध्यात्मिक मार्ग गुरु गोविन्द सिंह जी के सैनिक मार्ग में परिवर्तित हो गया।

प्राचीन इतिहास का अवलोकन विभिन्न दृष्टिकोणों से होता आया है और होता रहेगा। परन्तु गड़वड़ तव होती है जव इतिहास के किसी लोकप्रसिद्ध पात्र का केवल एक पक्षीय व्यक्तित्व विश्लेषण किया जाता है। जव किसी पात्र के व्यक्तित्व को सम्पूर्ण रूप से आलोकित न करके एकांगी रूप से प्रकाशित किया जाता है। भारतीय इतिहास के सर्वप्रसिद्ध व्यक्तित्व गुरु गोविन्दसिंह जी के साथ भी ऐसा ही हुआ है। वे एक वीर सैनिक थे, कुशल सेनापति थे, दक्ष प्रशासक थे, अद्वितीय संगठनकर्ता थे परन्तु इसके साथ ही वे एक उच्चकोटि के साहित्यकार भी थे, और औपनिषदिक दर्शन के व्याख्याता भी थे।

हिन्दी साहित्य में रीतिकाल की वड़ी चर्चा है। उस काल की प्रवृत्तियां, व्यवस्था, परिस्थितियां, ये सभी शोधकर्त्ताओं के शोध का विषय वनी हुई हैं। रीतिकाल की अश्लीलता की भयंकर अमावस्या में भूषण का वार-वार स्मरण किया जाता है। यह उचित ही है। लेकिन आश्चर्य तो इस वात पर होता है कि रीतिकाल के ही वीर रस के रस-सिद्ध कवि गुरु गोविन्दसिंह जी को क्यों भुला दिया जाता है। साहित्य के स्तर पर तुलना की जाए तो भूषण केवल कवि थे। युद्ध सम्वन्धी समस्त रचना उनके कला

कौशल का परिणाम है। वे स्वयं युद्ध-क्षेत्र में कभी नहीं उतरे। लेकिन गुरु गोविन्द सिंह के तो एक हाथ में तेग थी और दूसरे में कलम। उनकी वीर रस प्रधान कविता इस दृष्टि से सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य में बेजोड़ है।

हर्ष का विषय है कि इधर कुछ समय से हिन्दी साहित्य में गुरु गोविन्दसिंह काव्य का भी अध्ययन-अध्यापन प्रारम्भ हो रहा है। गुरु गोविन्दसिंह काव्य पर व्यापक रूप से शोध कार्य चल रहा है। 'गुरु गोविन्दसिंह : व्यक्तित्व एवं कृतित्व' इसी ओर एक लघु प्रयास है।

प्रस्तुत विश्लेषण और मूल्यांकन को अधिकाधिक वैज्ञानिक बनाने का प्रयत्न किया गया है। इसी दृष्टि से प्रस्तुत शोध कार्य को अनेक खण्डों, उपखण्डों में विभाजित किया है।

व्यक्तित्व विश्लेषण के लिए सन्दर्भ और परिवेश की व्याख्या अत्यन्त अनिवार्य है। जिस ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में यह लौह पुरुष उठा और जिन परिस्थितियों के स्पर्श से यह स्वर्ण बन गया उनका अपेक्षित विवेचन प्रथम अध्याय में किया गया है। वस्तुतः उन्होंने जिस युग को चुनौती दी थी उसका संक्षिप्त परिचय इस कार्य की अनिवार्यता है।

परिस्थितियों के सन्दर्भ में गुरु गोविन्दसिंह के व्यक्तित्व को मूल्यांकित किया गया है और व्यक्तित्व के सन्दर्भ में उनके साहित्य का अपेक्षित परीक्षण किया गया है। दूसरे और तीसरे अध्याय की रचना इसी दृष्टि से हुई है। वस्तुतः गुरु गोविन्द सिंह का व्यक्तित्व एक विषपायी नीलकण्ठ का व्यक्तित्व था। पंजाब भारत की ऐसी ध्वस्त ड्योढ़ी रहा है जिसका पददलन असंख्य आक्रमणकारियों ने आते जाते किया है। प्रत्यावर्तन का इतना भयंकर रूप शायद ही देश के किसी अन्य खण्ड ने देखा हो। इसी भूखण्ड से उठे विषमताओं के विष को गुरु गोविन्दसिंह ने ग्रहण किया और उनका व्यक्तित्व विराट हो गया। यह विराट व्यक्तित्व अपनी अनेक मुद्राओं में सामने आता है। एक ओर इसमें भारतीय गौरव, शौर्य, पराक्रम का अपराजेय रूप मिलता है। दूसरी ओर बलिदान और उत्सर्ग का महामहिम रूप मिलता है। साक्षात वीर रस का रूप भी उनके व्यक्तिव के माध्यम से मूर्तिमान हो उठता है। ऐसा कालजयी और मृत्युंजयी व्यक्तित्व पाकर भारतीय समाज और हिन्दी साहित्य धन्य हो उठा। द्वितीय अध्याय में इसी रूप की चर्चा की गई है।

श्री गुरु गोविन्दसिंह पहले महापुरुष थे जिन्होंने भारतवर्ष में विशुद्ध हिन्दू राष्ट्र की स्थापना हेतु न केवल घोषणा की बल्कि स्वयं आयुपर्यन्त उसके लिए संघर्षशील रहे। नैणादेवी के शक्तिपीठ में जाकर उन्होंने उद्घोष किया "सकल देश में खालसा पंथ गाजै, जगे धर्म हिन्दू सभै द्वन्द्व भाजे।" इसे महज संयोग ही समझना चाहिये कि दशम गुरु ने हिन्दू राष्ट्र के लिए सेना निर्माण का कार्य बैसाखी दिवस को आनन्दपुर (पंजाब) में 'पांच प्यारों के परिवर्तन से प्रारम्भ किया और सुदूर महाराष्ट्र में अपनी इहलीला समाप्त की। उनके इस अधूरे अभियान को कालान्तर में डा० केशवराम बलिराम हैडगेवार ने १९२५ को विजयदशमी के पावन दिवस पर पाँच

प्यारों[1] की सहायता से ही राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की स्थापना करके पुनः महाराष्ट्र से ही खड़ा किया जहां वे उसे छोड़ गए थे। डा० हैडगेवार जी ने एक बार पुनः दशम गुरू के अधूरे सूत्रों को संभाला और हिन्दू राष्ट्र के लम्बे यात्रा पथ पर चल पड़े। कहते हैं कि संघ स्थापना से पूर्व डा० हैडगेवार जी ने गुरु गोबिन्दसिंह और उन पर उपलब्ध साहित्य का सांगोपांग अध्ययन किया था। वे नान्देड़ में उस स्थान को देखने भी गए थे जहां दशम गुरु ने अपनी जीवन लीला समाप्त की थी। महात्मा गान्धी जी ने भी रामराज्य नाम से गुरुजी के आदर्श हिन्दू राष्ट्र की स्थापना का एक पूर्ण ढांचा सुविचारित किया था। यह गुरु गोबिन्दसिंह जी के व्यक्तित्व का धवल पक्ष हैं कि व अपने आप में एक पूर्ण विचारधारा का प्रतिनिधित्व करते थे जिसके लिए आज भी एक प्रकार से संघवाद (रा० स्वं से० संघ की विचारधारा) व गान्धीवाद प्रयत्नशील हैं। वास्तव में राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ की विचारधारा व गान्धीवाद को गुरु जी की उत्तराधिकारिणी घोषित किया जा सकता हैं।

भारतीय चिन्तन और मनन जब जब भी जन जीवन के यथार्थ से कटा है, तब तब उसमें असहजता आई है। इस अलगाव को दूर करने के लिए भारतीय मनीषा सदा ही प्रयत्नशील रही है। राम, कृष्ण, बुद्ध आदि ने इस धारा को सहज और जनव्यापी बनाने का ही प्रयत्न किया है। मध्ययुगीन भक्ति आन्दोलन इसी अभ्युत्थान के लिए होता है। भारतीय चिन्तन के विविध स्रोत यहां रुद्ध होते हैं वहां-वहां उनके मार्ग खोले जाते हैं। गुरु नानक ने ऐसा ही व्यापक जन-अभियान प्रशस्त किया और भारतीय चिन्तन के सरलतम सहजतम और शुद्धतम स्वरूप को प्रस्तुत करने का समारम्भ किया। श्री गुरु गोबिन्दसिंह भारतीय संस्कृति व दर्शन के ऐसे ही व्याख्याता और भाष्यकार थे। तृतीय अध्याय के अन्तर्गत भारतीय चिन्तन के इसी रूप को प्रस्तुत किया गया है।

चतुर्थ अध्याय के अन्तर्गत श्री गुरु गोबिन्दसिंह जी के कृतित्व का सक्षिप्त परिचय दिया गया है। उनकी कृतियों के कृतित्व के बारे में अनेक विवाद चलते रहे हैं। उनके दरबार में अनेक हिन्दी कवियों को प्रश्रय मिलता रहा है। इसलिए कुछेक विद्वानों की यह धारणा रही है कि दशमग्रन्थ की अनेक रचनायें विशेष रूप से पौराणिक कृतियाँ गुरु गोविन्द सिंह की रचनायें न होकर उन दरबारी कवियों की रचनायें हैं। परन्तु यह धारणा इसलिए संगत नहीं लगी कि गुरु गोबिन्दसिंह जैसे क्रान्तिकारी कवि किसी अन्य की रचना को अपने नाम के अन्तर्गत क्यों स्वीकार करते। इसके अतिरिक्त गुरु गोबिन्दसिंह केवल रूढ़ियों और पाखण्डों के विरोधी थे, पुराणों के नहीं। यदि वह एक ओर चण्डी के पौराणिक चरित्र को काव्य का विषय बना सकते हैं तो राम-कृष्ण जैसी देश की अनन्य विभूतियों को क्यों नहीं? इसके अतिरिक्त दशम ग्रन्थ की सम्पूर्ण रचनाओं में एक ही कवि व्यक्तित्व के दर्शन होते हैं। अतः डा० हरिभजन सिंह, डा० महीपसिंह, डा० चन्द्रशेखर, डा० धर्मपाल मैनी, डा० मनमोहन सहगल, डा० प्रसिन्नी सहगल आदि की यह धारणा है कि ये सभी रचनायें

---

१. डॉ हैडगेवार ने राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ की प्रथम शाखा पाँच स्वयं सेवकों को लेकर प्रारम्भ की थी।

गुरु गोविन्द सिंह जी की है। दशम ग्रन्थ शोधक कमेटी ने भी यही निर्णय दिया है। परन्तु डा० रतनसिंह जग्गी आदि विद्वान पौराणिक रचनाओं को गुरु गोविन्दसिंह की रचना नहीं मानते। वस्तुस्थिति यह है कि विद्वानों की बहुत बड़ी संख्या इन सभी रचनाओं को गुरुगोविन्द सिंह की रचनायें ही मानती है और एक नगण्य संख्या इसके विपरीत सोचती है। प्रस्तुत शोध में बहुमत को ही स्वीकार किया गया है।

पाँचवें अध्याय के अन्तर्गत अकाल पुरुष के स्वरूप का विस्तृत विश्लेषण किया गया गया है। उसके गुणात्मक रूप के सन्दर्भ में उसके जो जो रूप दशम ग्रन्थ के भक्ति काव्य में उभरे हैं उनका सर्वांग विवेचन किया गया है। इस प्रकार दशम ग्रन्थ के अन्तरंग का दार्शनिक रूप और कथ्य की मूलात्मा का परीक्षण किया गया है।

मैं उन सभी अधिकारी विद्वानों का हृदय से कृतज्ञ हूं जिनकी महत्वपूर्ण स्थापनाओं का प्रस्तुत शोध कार्य में परोक्ष और अपरोक्ष सहयोग लिया गया है। गुरु प्रवर डा० चन्द्रशेखर जी के स्नेह को मैं अपना मौलिक अधिकार समझता हूं। विभागीय स्तर पर भी और व्यक्तिगत स्तर पर भी। लेकिन व्यक्तिगत स्तर पर एक खतरा भी रहता है। चढ़ी हुई भृकुटियों के रूप में मुझे भी कई बार उसका सामना करना पड़ा है, परन्तु इसे भी मैं अपनी उपलब्धि ही मानता हूं। वे पंजाब में गुरु साहित्य के अधिकारी विद्वान हैं। दरअसल कहना तो यह चाहिये कि सही अर्थों में गुरु वाणी की राष्ट्रीय सन्दर्भ में विवेचना ही उनके प्रयासों से प्रारम्भ हुई है। उन्होंने गुरु वाणी के गिर्द साम्प्रदायिक तत्वों द्वारा शताब्दियों से निर्मित दीवारों को साहस पूर्वक तोड़ कर इस सीमान्त राज्य में एक नई चेतना का प्रसार किया है। उनके इन प्रयासों ने गुरु वाणी के अध्ययन की अनेक नई दिशाएं खोली हैं। इन्हीं दिशाओं में मैंने आगे बढ़ने का प्रयास किया है। इसमें मेरे चिंतन का जो रूप प्रकट हुआ है उसमें भारतीय संस्कृति के विद्वान मूर्धन्य गुरुवर आचार्य धर्मपाल मैनी की महान प्रेरणा रही है। इस अवसर पर मैं उनके समक्ष प्रणम्य मुद्रा में नतशिर हूं।

डा० पद्मगुरुचरण सिंह जी की सहायता के बिना शायद यह कार्य पूरा हो ही नहीं पाता। प्रो० शुभ लक्षण कुमार शर्मा, सतीश कुमार रम्पाल, शामलाल शर्मा, राकेश प्राशर, कृष्णचन्द्र आहुजा, रामसरन भारती, घनश्यामदास मानिकताहला व सुभाष प्राशर प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से मेरे प्रेरक रहे हैं। या यूं कहिये कि मुझे पथ पर मिल कर धकेलते रहे हैं। सुदूर कनाडा में सतीशकुमार प्राशर जो अपनी निरन्तर अवहेलना से मुझे कुछ करने को उत्तेजित करते रहते हैं। इन सभी का धन्यवाद करना पाप करना होगा। अतः इस पाप से बचता हूं।

दक्षिण पूर्वी एशिया प्रवास के समय हिन्दू दर्शन के महान व्याख्याता आचार्य करुणा कुशलासय का मधुर सम्पर्क मुझे प्राप्त हुआ था। उसने मेरे चिंतन को महत्वपूर्ण आयाम दिए हैं। मैं उनके प्रति अतीव आभारी हूं।

—कुलदीप चन्द अग्निहोत्री
अध्यक्ष हिन्दी विभाग,
शिवालिक कालिज, नया नंगल

मुकन्दपुर (पंजाब)

क्रम

गुरु गोबिन्द सिंह : परिस्थितियों की पृष्ठभूमि

राजनैतिक परिस्थितियाँ

प्रत्येक युग के काव्य पर उस युग की राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक परिस्थितियों की छाप अंकित रहती है। उस युग का चित्रण प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से तत्कालीन काव्य में मिल जाता है। लेकिन समयुगीन परिस्थितियों से तटस्थ रहकर युग का अवलोकन करने वाला द्रष्टा काव्य को आत्मा प्रदान करने में उतना सफल नहीं हो पाता जितना कि उन परिस्थितियों में तिलतिल कर जीने वाला कवि व रचनाकार। यही अन्तर गुरु गोविन्द सिंह जी व समकालीन कवियों की रचना में स्पष्ट है। गुरु जी पूर्णतया परिस्थितियों व उत्तराधिकार में मिले उत्तरदायित्व की उपज थे। अत: उनके प्रत्येक क्रिया-कलाप पर तद्युगीन समस्याओं का अंकित होना अनिवार्य सा है। परन्तु इसके विपरीत गुरु जी के समकालीन कवियों के काव्य में तद्युगीन चित्रण क्यों नहीं है इसका कारण भी स्पष्ट है—"इस काल के सन्तों और कवियों को यह जानने की तनिक भी उत्सुकता नहीं है कि देश में राज्य किसका है। वे हरि भजन में मस्त हैं और जनता में भक्ति भावना का प्रचार कर रहे हैं। सदियों का संचित ज्ञान और धार्मिक अनुभूति जनता को उपलब्ध की जा रही है और जनता भी धार्मिक आवेश में मग्न है। उसमें भक्ति के लिए तो उत्साह है किन्तु विदेशियों को भगाने की तनिक भी चिन्ता नहीं है। तुलसीदास और राणा प्रताप कुछ समय के लिए समकालीन थे किन्तु तुलसीदास ने राणा प्रताप का नाम सुना था या नहीं इसका कहीं कोई प्रमाण नहीं मिलता। इस काल में राजनीति अप्रमुख है। धर्म और संस्कृति प्रधान है। सन्त आसानी से कह देते हैं—"

> सन्त को कहा सिकरीं सौं काम ?
> आवत जात पनहियाँ टूटी विसरी गए हरिनाम।[1]

गुरु गोविन्द सिंह का जिस समय जन्म हुआ, उस समय मुगल शासन अपनी राजनीतिक शक्ति के चरमोत्कर्ष पर था। अपने पिता को वन्दी बनाकर अपने भाइयों को मौत के घाट उतारकर स्वयं आलमगीर की उपाधि धारण कर औरंगजेब को मुगल भारत का सम्राट बने आठ वर्ष हो गए थे।[2] वास्तव में भारत का वातावरण औरंगजेब से बहुत पहले ही मुगलमय हो चुका था। पन्द्रहवीं तथा सोलहवीं शताब्दी से मुगल राज-नीति अत्यन्त संकीर्ण व धर्मान्ध हो चुकी थी। भारतीयों को अनेक प्रकार से तंग किया

जा रहा था। उनकी आर्थिक स्थिति को निम्न स्तर तक लाने के लिए शासन की ओर से योजनाबद्ध ढंग से कार्य किया जा रहा था। हिन्दु धर्म को समाप्त करने के लिए धार्मिक स्थानों को अपवित्र किया जा रहा था। दिन के मन्दिर रात की मस्जिदें बन गईं। निर्धन हिन्दू जजिया की मार से दबाया जा रहा था। मुसलमानों के सामने उनका घोड़ों पर चढ़ना व साफ कपड़े पहनकर चलना वर्जित कर दिया था। राजमार्गों का उनके लिए निषेध था। इतने अत्याचारों के बाद भी हिन्दुओं को तलवार के जोर से इस्लाम में दीक्षित किया जा रहा था—"जिस समय औरंगजेब सिंहासनारूढ़ हुआ उस समय मुगल साम्राज्य सिंध के लहिरी बन्दरगाह से आसाम में सिलहट तक और अफगान प्रदेश के विस्त किले से लेकर दक्षिण में औसा तक फैला हुआ था। अपनी उदार नीति, दूर-दर्शितापूर्ण व्यवहार के कारण अकबर देश में शान्ति स्थापित करने में सफल हुआ था। यद्यपि जहाँगीर धार्मिक दृष्टि से अपने पिता जैसा उदार नहीं था और अपने शासनकाल में उसने अपनी इसी असहिष्णुता के कारण सिक्खों के पाँचवें गुरु—गुरु अर्जुन देव जी का वध भी करवा दिया था परन्तु अपनी विलासी मनोवृत्ति के कारण उसने अपने आपको सुरा-सुन्दरी तक ही सीमित रखा।[3]

भारत के दूसरे प्रान्तों की अपेक्षा पंजाब की स्थिति अधिक शोचनीय थी क्योंकि पंजाब सीमा पर स्थित होने के कारण आक्रमणों के सारे प्रहार पंजाब को ही झेलने पड़ते थे और इस कारण उसका प्रभावित होना भी अपरिहार्य ही था। भारत का यह प्रान्त अन्य सभी प्रान्तों से पहले ही पराजित हो चुका था। यह प्रदेश मुसलमानों की दो प्रबल राजधानियों दिल्ली व काबुल के बीच था। मुसलमानी राज्य यहाँ अत्यन्त दृढ़ता से जमा हुआ था। दूसरे धर्म को अपनाने की तरंग यहाँ जोर से चल चुकी थी और पंजाब में ही सबसे कधिक संख्या ऐसे लोगों की थी जिन्होंने अपना धर्म छोड़कर इस्लाम स्वीकार कर लिया था। हिन्दू मन्दिरों को गिराकर बराबर कर दिया गया था और हिन्दू पाठशालाओं तथा मन्दिरों की जगह मस्जिदें खड़ी कर दी गई थीं अर्थात् हिन्दू गौरव के समस्त चिह्न मिटा दिए गए थे।[4]

मुगलों के इन अत्याचारों के युग की जो दूसरी कष्टदायी बात है, वह यह कि इस समय कोई हिन्दू राजा ऐसा नहीं था जो डटकर उनका सामना कर सके। साहस की कमी के कारण जो बचे-खुचे हिन्दू राजा थे वे भी हिन्दू शक्ति का एकत्रीकरण करने की बजाय मुगल शासन की कृपा-दृष्टि प्राप्त करने के लिए लालायित रहते थे। अपवादों को छोड़-कर राजस्थान का इतिहास इसका प्रमाण है। हिन्दू राजा आपस में ही क्षुद्र स्वार्थों के लिए या थोथे अभिमान में आकर लड़ते रहते थे। एक दूसरे को नीचा दिखाने के लिए वे मुगलों से मदद लेने व उनको मदद देने में भी संकोच नहीं करते थे। राष्ट्र की कोई स्पष्ट कल्पना इन रजवाड़ों में नहीं थी। अपने संकुचित और संकीर्ण दृष्टिकोण के कारण प्राय: मुगलों के सहायक बने रहते थे। पहाड़ी राजे इसके साक्षी हैं। वे गुरुजी के क्रिया-कलापों में सहायक होने की बजाय सदा रोड़े अटकाते रहे। स्वयं तो वे गुरु जी से युद्ध करने के लिए कटिबद्ध रहते ही थे, यहाँ तक कि औरंगजेब को भी गुरु जी पर प्रहार करने के लिए समय-समय पर आमन्त्रित करते रहते थे।

उस युग के हिन्दू राजा गौरवशून्य हो चुके थे। कोई उच्चादर्श तो उनमें था ही नहीं और मिथ्याभिमान उनमें इस मात्रा तक था कि जहाँ मुगलों की जी हजूरी करना, उनका मनसब स्वीकार करना और उन्हें झुक-झुककर सलाम करना वे अपना गौरव समझते थे, वहीं दूसरी ओर हिन्दू जागरण के सभी प्रयासों को कुचलने में मुगलों की सहायता करने में वे सदैव तत्पर रहते थे। शिवाजी को अपने चारों ओर के मराठा सरदारों के सतत विरोध का सामना करना पड़ा और जोधपुर के महाराजा जसवन्त सिंह तथा आमेर के मिर्जा राजा जय सिंह उन्हें दबाने दक्षिण गए।[५] बुन्देलखण्ड के अनेक राजाओं ने छत्रसाल का विरोध करते हुए मुगल सेना के साथ होकर उनसे युद्ध किया। पंजाब के पहाड़ी प्रदेशों के राजा तो गुरु गोविन्द सिंह का सदा विरोध करते रहे और बार-बार पत्र लिखकर औरंगजेब को उनके विरुद्ध चढ़ाई करने के लिए प्रेरित करते रहे।

सत्ता स्पर्धा इतनी बढ़ी कि नैतिकता की सभी सीमाएँ टूट गईं। "अगर दिल्ली का औरंगजेब पिता को कैद कर सकता था तो मारवाड़ का अमर सिंह अपने पिता की हत्या भी कर सकता था।"[६]

"गुरु गोविन्द सिंह का जन्म देश की उन राजनैतिक परिस्थितियों में हुआ जब अकबर द्वारा प्रस्थापित राजनैतिक शान्ति पूरी तरह नष्ट हो चुकी थी। औरंगजेब की धार्मिक नीति के कारण देश में हिन्दुओं के अन्दर प्रतिरोध का भाव जाग्रत हो रहा था। पंजाब और महाराष्ट्र में संघर्ष का सूत्रपात भी हो चुका था। गुरु गोविन्द सिंह ने केवल नौ वर्ष की आयु में ही दिल्ली में अपने पूज्यपिता का बलिदान होते देखा था। इस अबोध-सी लगने वाली आयु में उन्होंने गुरु गद्दी का वह गुरुतर भार संभाला जो दिल्ली के मुगल शासन की आँखों में काँटे की तरह खटक रही थी। देश के अनेक भागों में हिन्दू उस अन्यायी शासन के विरुद्ध सिर उठा रहे थे। विशाल और शक्ति सम्पन्न मुगलवाहिनी बड़ी क्रूरतापूर्ण उन विद्रोहों का दमन कर रही थी। उस दमन के परिणामस्वरूप उस विद्रोहाग्नि पर कुछ समय के लिए राख पड़ती किन्तु समय पाकर अन्दर छिपी चिनगारी फिर उमड़ पड़ती।"[७]

धार्मिक अवस्था

कलि काते राजे कसाई, धरमु पंख कर उड़रिया।
कुडु अमावस सचु चन्द्रमा दीसै नाहीं कहि चड़िया ॥
हउ भाल विकुन्नी होई, आधेरै राहु न कोई ॥

अर्थात् कलियुग कटार के समान है, राजे कसाई हैं और उनके राज्य में धर्म पंख लगाकर उड़ गया है। चारों ओर असत्य की अमावस छायी हुई है। उसमें सत्य का चन्द्रमा कहाँ उदय हुआ है दिखाई नहीं देता। जीव उस अन्धेरे में सत्य की खोज करता हुआ भ्रमित घूम रहा है। अन्धकार में कोई मार्ग नहीं सूझता। लगभग कई युगों की शाश्वत धार्मिक अवस्था का यह सजीव वर्णन गुरु नानक देव जी ने किया है। इसमें भाग

सम्पूर्ण युग की, जिसे दशम गुरु व उसके बाद तक स्वीकार कर लिया जाएगा, का गहराई से दिग्दर्शन हुआ है।

"इस प्रकार उस युग में जब चारों ओर धर्म का ढोल पूरे जोर से बजाया जा रहा था, धर्म के वास्तविक स्वरूप की हत्या करना ही सबसे बड़ा धर्म समझा जा रहा था। नैतिक तथा बौद्धिक ह्रास के इस युग में धर्म की उदात्त भावना पूर्ण रूप से समाप्त हो गई थी। धर्म का उद्देश्य होता है व्यक्ति और समाज के नैतिक स्तर को उच्च बनाना तथा जनता में लौकिक संघर्षों से टक्कर लेने की शक्ति उत्पन्न करना। परन्तु उस काल में धर्म के नाम पर भी अनेक विकृतियाँ ही अवशिष्ट रह गई थीं। उस युग में अन्धविश्वास, रूढ़ियों का अनुसरण तथा बाह्याडम्बरों का पालन ही धर्म की परिभाषा थी। ईश्वर और खुदा की प्रेरणामयी भावनाओं के स्थान पर पंडितों और मुल्लाओं का स्थूल और लौकिक अस्तित्व स्थापित हो गया था, जिनकी सम्मत्ति और वाणी अन्धविश्वास से युक्त अशिक्षित जनता के लिए वेदवाक्य अथवा खुदा की आवाज का काम करती थी। यही नहीं ईश्वर और खुदा के प्रतिनिधि एक दूसरे को अपना प्रतिद्वन्द्वी समझते थे। अत: दोनों में समझौते की भावना का पूर्णत: अभाव हो गया था।"[८] समग्र रूप से विचार करने पर पता चलता है कि समस्त मुगल शासक ही धर्मान्ध, साम्प्रदायिक व सीमित दृष्टिकोण वाले थे। जहाँगीर ने गुरु अर्जुन देव का वध करवाया। अकबर हिन्दू राष्ट्र के स्वप्नद्रष्टा महाराणा प्रताप को समूल नष्ट करने के लिए आयुपर्यन्त प्रयत्नरत रहा। मन्दिरों को ध्वस्त करना, खुले आम गऊ हत्या करना, हिन्दुओं को खड्ग के बल से इस्लाम में दीक्षित करना, संस्कृत ग्रन्थों को जलाना, ब्राह्मणों का अपमान करना, उनको निर्दोष ही मौत के घाट उतार देना, हिन्दू युवतियों का बलपूर्वक अपहरण करना उनसे बलात्कार करना, हिन्दू सुन्दरियों को मुगल हरमों की शोभा बनाना, हिन्दू उत्सव मनाने की मनाही व उनको भंग करना—ये तो प्राय: सभी मुगल शासकों के शासन काल के सामान्य क्रिया-कलाप रहे हैं।

इसके साथ-साथ धर्म के नाम पर अनेक कुरीतियाँ चल पड़ी थीं। धर्म के नाम पर लोग दुकानें चलाने लगे थे। धर्म के बाहरी स्वरूपों को स्वीकार करके भी हिन्दू समाज तथा मुस्लिम समाज कुमार्ग पर चलते थे। माथे पर तिलक लगाने वाले, गंगा स्नान करने वाले, गऊ पूजा करने वाले व दोनों समय पूजन-हवन करने वाले भी मुसलमानों के आगे नत-मस्तक होते थे व अपनी आँखों के सामने गो वध होता देखते थे। भाग्यवाद के सिद्धान्त को विकृत करके सारा हिन्दू समाज अकर्मण्यता की गोद में चुपचाप सो रहा था। इस्लाम के प्रतिरोध का कार्य अपने भगवान पर छोड़ दिया था। धर्म की वसुधैव कुटुम्बकम की भावना को सम्प्रदायों की कोठरियों में कैद कर दिया गया था।

पड़ि पुस्तकं संधिया वादं।
सिल पूजसि कगुल कणुल समाधं।
मुखि झूठ विभूखण सारं॥

अर्थात् पुस्तकें पढ़ते हैं, सन्ध्या करते हैं। किन्तु उस सन्ध्या के वास्तविक रहस्य

को नहीं समझते। पांडित्य प्रदर्शन के निमित वाद-विवाद में रत रहते हैं। पाषाण की पूजा करते हैं और बगुले की भाँति झूठी समाधि लगाते हैं। सच्ची समाधि के आनन्द से बहुत दूर हैं। दिखावा मात्र समाधि का दम्भ भरते हैं। मुख से झूठ बोलकर लोहे के गहने को सोने का दिखाते हैं।[९] इसी प्रकार गुरु गोविन्द सिंह जी तद्‌युगीन धर्म के बाह्याडम्बरों पर कटाक्ष करते हुए कहते हैं—

ध्यान लगाई ठगिओ सब लोगन, सीस जटा नख हाथ बढ़ाए।
लाई बिभूत फिरयो मुख उपरि देव अदेव सबै डहकाए॥
लोभ के लागे फिरयो घर ही घर जोग के न्यास सबै बिसराए।
लाज गई कछु कामु सरयो नहि प्रेम बिना प्रभु पात न आए॥[१०]

ऐसी बात नहीं कि धर्म के क्षेत्र में हिन्दू समाज का ही इतना पतन हुआ हो। वास्तव में मुसलमान समाज भी धर्म के नाम पर जर्जर व विभक्त हो चुका था। केवल सत्ता का आश्रय होने के कारण उसका ऊपरी दबाव बना हुआ था। शिया सुन्नी नाम के दो वर्ग तो उनमें प्रचलित थे ही; पीर, पैगम्बर, औलिया, मुल्ला आदि नामों से उनमें भी अनेक भेदों का निर्माण हो चुका था। काज़ी और मुल्ला भी त्यागमय जीवन छोड़कर विलासी बन गए थे। कुरान व नमाज़ का पाठ कर लेने मात्र को ही उन्होंने धर्म का नाम दे रखा था। धर्म आस्था के स्थान पर उनमें धन आस्था की, शासन से अधिक से अधिक लाभान्वित होने की प्रवृत्ति घर कर गई थी। हिन्दुओं पर अत्याचार करना व उनको बलात् इस्लाम में लाना ही मुसलमान अपना धर्म समझ रहे थे। मस्जिदों का निर्माण व मन्दिरों का विध्वंस ही मौलवियों की दृष्टि में इस्लाम की प्रगति का सूचक बन गया था।

"उस समय की राजनैतिक स्थिति की भयंकरता, सामाजिक व्यवस्था की अस्त-व्यस्तता एवं धार्मिक बाह्याडम्बरता तथा रूढ़िग्रस्तता के कारण देश विषमावस्था में था। देश में दो वर्ग थे—एक तो शासकों का और दूसरा शासितों का। दोनों की मानसिक अवस्थाएँ पृथक्-पृथक् थीं। शासकों में अहंभाव की प्रधानता आ गई थी। उनकी अहंमन्यता अपनी चरमसीमा को पहुँच चुकी थी। यह अहमन्यता इतनी बढ़ी हुई थी कि शासितों के राजनैतिक अस्तित्व को स्वीकार करने में भी अपना अपमान समझते थे। दूसरी ओर शताब्दियों के अत्याचार, अपमान और राजनैतिक दासता के फलस्वरूप हिन्दू अपना शौर्य, आत्म-गौरव और आत्म-विश्वास खो बैठे थे। धर्म का वास्तविक स्वरूप लुप्त सा हो गया था। मुसलमानों के बलात् धर्म परिवर्तन एवं हिन्दुओं में मानसिक कमजोरी के कारण बाहरी आडम्बरों की प्रबलता आ गई थी।"[११]

सामाजिक अवस्था

लम्बे अर्से तक मुगलों का साम्राज्य भारत में रहने के कारण हिन्दू सामाजिक व्यवस्था का नाम मात्र रह गया था, उस पर मुस्लिम सामाजिकता हावी हो चुकी थी। वर्णाश्रम व्यवस्था का जितना विकृत स्वरूप इस युग में प्रकट हुआ शायद भूत-भविष्य में कभी नहीं हुआ। वर्ण का कर्म सूचक महत्व समाप्त हो गया था। वर्ण जाति पर आधारित

हो गया था और प्रत्येक वर्ण के बीच में भेद की अभेद्य दीवारें खड़ी हो गईं। श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी के अनुसार हिन्दू धर्म कछुआ धर्म बन गया था। हिन्दू समाज अपने आपको खोल में सिकोड़कर सीमित हो गया। जातियों में आगे अनेक उप-जातियाँ निर्मित हो गई थीं। उनमें द्वेष भावना चरमसीमा तक पहुँच गई थी। मुगलों से संघर्ष करने की बजाय आपस में संघर्ष करना वे सुविधाजनक समझते थे। एक जाति की नीचता प्रदर्शित करने के लिए दूसरी ने अनेक कहावतें बना रखी थीं, जैसे—

(क) जिसका बनिया यार, उसे दुश्मन की क्या दरकार।

(ख) खत्री पुत्रम् कभी न मित्रम् जब मित्रम् तब दगा दगा।

(ग) पीताम्बर छाजौ, साबत भलौ न टाट,
और जात शत्रु भली, मित्र भला नहीं जाट।

(घ) कायथ, कुरकुट, कौआ, तीनों जाति पोसीआ।

(ङ) बामन, कुत्ता, हाथी, आपन जाति न साथी॥

इस प्रकार भारतीय समाज अनेक वर्गों, उप वर्गों में बुरी तरह विभाजित था। उनमें आपस में घृणा, द्वेष का विषैला वातावरण बना हुआ था। स्त्री की स्थिति उस सीमा तक पहुँच गई थी जिससे नीचे और पतन हो ही नहीं सकता था। उसका अस्तित्व पति के साथ ही था। पति से अलग उसका कोई व्यक्तित्व नहीं था। उसे गृहलक्ष्मी नहीं गृहदासी समझा जाता था। वह केवल मात्र इन्द्रिय भोग-विलास की कुंजी बनकर रह गई थी। उसमें भी कोई चेतनता स्पन्दित हो रही है, ऐसा पुरुष के लिए सोच पाना ही कठिन हो गया। स्त्री समाज पर्दा प्रथा से बुरी तरह ग्रस्त था। मुसलमानों की बुरका प्रथा ने हिन्दू समाज की नारी को घूँघट और घर की चारदीवारी में कैद कर लिया। स्त्री की डोली विवाह के समय घर में आती और मृत्यु के समय उसकी अर्थी घर के बाहर जाती है—इसका समाज में प्रचलन था। दूसरी ओर समाज का धनी वर्ग अपने ही एक अलग वर्ग में रह रहा था। मुगलों की जी हजूरी करके उसने सामाजिक प्रतिष्ठा का कृत्रिम व निन्दनीय लबादा ओढ़ लिया था। इनका अपने जातियों से ही बहुत बुरा व्यवहार रहता था। अपने वर्ग में और समाज से दूर रहकर ये पूँजीपति वर्ग विलासिता में मग्न था।

राजमहलों में उस समय वैभव व विलासिता का साम्राज्य छाया हुआ था। जीवन का दृष्टिकोण मात्र लौकिकता रह गया था और स्त्री सुख परम सुख बन गया था। समाज के सभी जीवन मूल्य पूर्णतया नष्ट हो चुके थे। विलासिता के नद में डूबा हुआ समाज उसमें से बाहर निकलने की कल्पना को भी कष्टदायक मानने लगा था। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि यह विलासिता व वैभव सारे समाज को ग्रसित किये हुआ था। विलासिता का यह अभिशाप या वरदान केवल पूँजीपति वर्ग तक ही सीमित था। और इस वर्ग में हिन्दू-मुस्लिम समान थे। इस वर्ग और निम्न वर्ग का इतना सम्बन्ध ही था कि अमीरों के विलास के लिए यह सारा धन निर्धनों के गाढ़े खून-पसीने की कमाई से आता था।

उस युग का हिन्दू समाज बीच में से पूर्णतया खोखला हो चुका था। समाज की वह श्रेष्ठता जिसके सहारे शताब्दियों से अपना समाज सरलतापूर्वक चल रहा था समाप्त हो गई थी—

"उस समय पंजाब के हिन्दू समाज में ऐक्य की भावना का अभाव था। मुख्यतः सम्पूर्ण हिन्दू जनता चार वर्णों में विभक्त थी और वे वर्ण भी आगे कई शाखाओं उप-शाखाओं में विभक्त थे। मुसलमानी धर्मान्धता तथा बलपूर्वक मुसलमान बनाने की प्रवृत्ति ने वर्ण धर्म को और भी संकीर्ण कर दिया था। ब्राह्मणों का ब्रह्मतेज मुसलमानों के सामने तो अवश्य घुटने टेक चुका था किन्तु स्वदेशीय शूद्र भाई के लिए उसके शमित तेज की भस्म में दह्यमान चिंगारी अभी विद्यमान थी। सम्पूर्ण समाज निराधार अंध विश्वासों और रूढ़ियों के पाश में दम तोड़ रहा था। लोगों में सदाचारहीनता की भावना घर कर चुकी थी। स्त्री भी दासी और विलासिता की साधन मात्र रह गई थी।[१२] लेकिन यदि गहराई से विचार किया जाए कि इस सामाजिक अवमूल्यन का कारण क्या था तो स्पष्ट हो जाएगा कि मुसलमानों की धर्मान्धता व कट्टरपंथता के कारण ही हिन्दू समाज को अपने को सीमित कोठरियों में बन्द करना पड़ा ताकि रक्त की शुद्धता बनी रहे—

"राजनैतिक धर्मान्धता का सामाजिक संघटन पर प्रभाव पड़ना अवश्यम्भावी है। मुसलमान शासकों ने धर्म परिवर्तन के कई अस्त्र निकाले, जिनमें यात्रा कर, तीर्थ यात्रा कर, धार्मिक मेलों, उत्सवों और जलूसों पर कठोर प्रतिबन्ध, नये मन्दिरों के निर्माण तथा जीर्ण मन्दिरों के पुनरुद्धार पर रोक, हिन्दू धर्म और समाज के नेताओं का दमन, मुसलमान होने पर बड़े-बड़े पुरस्कार देने आदि मुख्य थे। इन्हीं अस्त्रों द्वारा वे लोग हिन्दू धर्म को सर्वथा मिटा देना चाहते थे।"[१३]

इन अत्याचारों का परिणाम तत्कालीन जनता पर बहुत अधिक पड़ा। हिन्दुओं का अनुदार वर्ग और अधिक अनुदार बन गया। वे अपनी सामाजिक स्थिति के रक्षण हेतु और भी अधिक सचेष्ट हो गए। इसका परिणाम हिन्दू मात्र के लिए अत्यन्त भीषण सिद्ध हुआ। हिन्दुओं का एक वर्ग असहिष्णु, अनुदार और संकीर्ण हो गया। अपने को विधर्मी प्रभावों से बचाना, उसका श्रेय हो गया। युग-धर्म, लोक-धर्म से पराङ्मुख हो, बाह्याचारों रूढ़ियों के कवच से अपने को सुरक्षित रखना यही उनका सबसे बड़ा प्रयास सिद्ध हुआ। उनकी यह पराङ्मुखता अन्य धर्मावलम्बियों तक ही सीमित नहीं रही बल्कि अपने सह-धर्मियों के साथ भी व्यापक रूप से परिलक्षित हुई। इसी कारण सामाजिक व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो उठी। हिन्दुओं का वर्णाश्रम धर्म कहने मात्र को रह गया। ब्राह्मण अपनी दैवी सम्पदा को त्यागकर, पाखंडपूर्ण धर्म में रत हो गए। इसी प्रकार क्षत्रिय गण अपने स्वाभाविक शौर्य को त्यागकर मुगल शासकों की जी हजूरी करने लगे। ब्राह्मण अपनी भाषा और संस्कृति के प्रेम को त्यागकर उदरपोषण के निमित्त अरबी फारसी के अध्ययन में रत हुए। हिन्दू धर्म पर केवल मुसलमानों का ही अत्याचार नहीं था बल्कि हिन्दुओं का अत्याचार उससे भी अधिक था। शूद्रों को नीचतम वर्ण समझा गया। उच्च वर्ण वालों ने उन्हें सारे अधिकारों से वंचित कर दिया। वेदों और शास्त्रों का अध्ययन उनके लिए त्याज्य बताया गया। अन्त्यजों की दशा तो और भी शोचनीय थी। वे मंदिरों में देवताओं के दर्शन से भी बहिष्कृत किये गए। उनकी छाया के स्पर्श मात्र से उच्च वर्ण के हिन्दुओं का शरीर अपवित्र हो जाता था।"[१४]

जातिगत मिथ्याभिमान इस सीमा तक बढ़ चुका था कि पहाड़ी राजे गुरु गोविन्द

सिंह के खिलाफ प्रायः इसलिए ही लड़ते रहते थे कि गुरु जी ने समाज के शूद्र वर्ग को बाकी सभी के समान खड़ा कर दिया था। सभी को एक स्थान पर लंगर छकाया था। इनको भी अन्य वर्णों की भांति खालसा पंथ में दीक्षित किया था। चाहे ये शूद्र लोग अधर्मी के विरुद्ध लड़ने के लिए ही खड़े हुए थे लेकिन जाति गत अभिमान में अन्धे हुए पहाड़ी राजे इन शूद्रों के गुरु, गुरु गोविन्द सिंह को मज़ा चखाने के लिए औरंगजेब की सहायता करने को भी तैयार हो गए।

साहित्यिक परिस्थिति

गुरु गोविन्द सिंह का रचना काल हिन्दी साहित्य के ऐतिहासिक काल विभाजन की दृष्टि से रीतिकाल में आता है। इस काल में जैसा कि सर्वविदित ही है सामाजिक स्थिति के अनुकूल ही शृंगारिक काव्य रचना की प्रमुखता रही। कवि अपने आश्रयदाता की प्रशंसा व झूठे बड़प्पन पर ही कविता लिखा करते थे। शासकों को विलासिता की ओर ले जाने में इनका भी अच्छा खासा योगदान रहा है। ये कवि लोग तद्युगीन परि-स्थितियों से निर्लेप रहकर राजनीति से तटस्थ रहकर कामुकता को अपना विषय बनाकर काव्य रचना करते रहे। आश्चर्य होता है कि शाहजहाँ का पतन व औरंगजेब का सत्तारूढ़ होना—देश में इतना बड़ा राजनैतिक परिवर्तन हुआ, लेकिन समकालीन कवियों—बिहारी, देव, कुलपति, आदि की कविता में इसका कहीं संकेत मात्र भी नहीं मिलता। ये लोग नायक-नायिका भेद में ही दत्तचित होकर लगे रहे। स्त्री के सुन्दर अंगों की छवि को निहारते रहे। दरअसल उस समय के कवियों के लिए काव्य रचना आत्म संतुष्टि या समाज हित का साधन नहीं था बल्कि उनके लिए जीविकोपार्जन का साधन-मात्र था। इसलिए आश्रयदाता की इच्छानुकूल उन्हें प्रसन्न रखने के लिए वे सुरा-सुन्दरी को काव्य बनाने में परिश्रम रत रहे। काम की जितनी उपासना इस युग में हुई भारतीय साहित्य के किसी युग में ऐसा नहीं हुआ। अश्लीलता की पराकाष्ठा हो गई। इस युग के कवियों के लिए विश्व में केवल एक चेतन की ही प्रधानता रह गई और वह थी स्त्री, कविता, ललिता। स्त्री का भी एकांगी स्वरूप ही सामने रहा। केवल नवयौवना सुन्दरी, प्रेमिका व पति का स्वरूप। स्त्री माता-बहिन भी होती है—यह जैसे इस काल के कवियों ने बिल्कुल भुला दिया।

"इस काल के कवियों में से जिन्होंने स्थापित छोटे-छोटे राज्यों में आश्रय ढूंढा जैसे चिन्तामणि ने मुगल सम्राट् शाहजहाँ और चित्रकूट के राजा रुद्रसाहि सोलंकी के दरबार में, बिहारी और कुलपति ने जयपुर के दरबार में, मतिराम ने बूंदी और देव ने औरंगजेब के पुत्र आजमशाह और राजा भोगीलाल आदि के पास, वे कवि तो शृंगारिक रचनाएँ करते रहे या रीति ग्रन्थ लिखते रहे। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे कवि भी थे जिन्होंने मुगल राज्य के विरोधी केन्द्रों में आश्रय ग्रहण किया। इन केन्द्रों के नायक उस समय विधिवत राजा नहीं थे परन्तु उनका परिवेश और उनके दरबारों का रंग-ढंग राजाओं जैसा ही था। औरंगजेब के शासन काल में शिवाजी, छत्रसाल और गुरु गोविन्द सिंह इस प्रकार के प्रमुख नायक थे और उनके आश्रय में उस काल की प्रचलित परम्परा

के प्रतिकूल भूषण, लाल और सेनापति आदि कवि वीर रस पूर्ण रचनाएँ लिख रहे थे। सम्पूर्ण देश पर जिस समय संकट छाया हुआ था, हिन्दुओं के मान को हिन्दू नष्ट करते आ रहे थे, उनका बलात धर्म परिवर्तन किया जा रहा था, उन्हें आर्थिक दृष्टि से तोड़ देने के लिए उन पर नये कर लगाए जा रहे थे, ऐसे समय में विलासी और गौरव शून्य राजाओं के दरबारों की शोभा बढ़ाते हुए ये शृंगारी कवि नायिका भेद की सूक्ष्मतम परिभाषाएँ करते हुए शृंगार को रसराज सिद्ध करने में लगे हुए थे। केशव ने तो शृंगार को केवल रसों का नायक ही घोषित किया था परन्तु देव ने तो मूल रस शृंगार ही माना और वीर तथा शान्त आदि मुख्य रसों को भी अन्त में शृंगार में ही लीन कर दिया था। बिहारी सांसारिक भोग और ऐश्वर्य को ही जीवन का चरम लक्ष्य मान रहे थे। ऐसी परिस्थिति में कुछेक कवियों ने उन नायकों के पास आश्रय ढूंढा जो काव्य रसिक तो थे ही परन्तु उनकी यह रसिकता उनमें काम तीव्र करने की उपेक्षा उत्साह तीव्र करने की ओर अधिक थी और ऐसे जन-नायकों में गुरु गोविन्द सिंह प्रमुख थे। उनमें कवियों के आश्रय-दाता होने और स्वयं सिद्ध कवि होने का अद्वितीय संयोग था।[१५]

सन्दर्भ

१. संस्कृत के चार अध्याय : डॉ० रामधारी सिंह दिनकर, पृ० २७०
२-३. गुरु गोविन्द सिंह और उनकी हिन्दी कविता : डॉ० महीप सिंह, पृ० २-३
४. ट्रांसफारमेशन आफ सिखिज़म, पृ० २८
५. शिवाजी : जदुनाथ सरकार (हिन्दी संस्करण), पृ० ६४
६. रीतिकाव्य की भूमिका : डॉ० नगेन्द्र, पृ० ७
७. गुरु गोविन्द सिंह और उनकी हिन्दी कविता : डॉ० महीप सिंह, पृ० ५
८. हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास (षष्ठ भाग), पृ० १७
९. श्री गुरु ग्रन्थ साहिब : आसा दी वार, पृ० ४७१
१०. वाणी गुरु गोविन्द सिंह : सम्पादक—प्रेमप्रकाश सिंह, पृ० ३०८
११. श्री गुरु ग्रन्थ दर्शन : डॉ० जयराम मिश्र, पृ० ४९
१२. दशम ग्रन्थ की पौराणिक पृष्ठभूमि : रत्नसिंह जग्गी, पृ० १८९
१३. इवोल्यूशन आफ खालसा १ : इन्दुभूषण बैनर्जी, पृ० ४३-४४
१४. श्री गुरु ग्रन्थ दर्शन : डॉ० जयराम मिश्र, पृ० ४३-४४
१५. गुरु गोविन्द सिंह और उनकी हिन्दी कविता : डॉ० महीप सिंह, पृ० १५-१६

द्वितीय अध्याय

गुरु गोबिन्द सिंह : व्यक्तित्व

पूर्वकाल

सम्राट् हर्षवर्धन अन्तिम हिन्दु सम्राट् माना जाता है। उसके राज्यकाल के उपरान्त भारत पर विदेशियों के आक्रमण होने प्रारम्भ हो गए थे। भारत की सशक्त केन्द्रीय व्यवस्था भंग होनी शुरू हो गई थी। परन्तु ये आक्रमण न तो योजनाबद्ध रूप से किए जाते थे और न ही इनका कोई स्थायी महत्व आंका जा सकता है। भारत में राज्य स्थापना और इस्लाम धर्म के प्रसार की उद्दाम इच्छा को लेकर आक्रमण करने वालों में बाबर का नाम इतिहास की अग्रिम पंक्तियों में लिखा जाता है। बाबर द्वारा भारत के कुछ भू-भाग पर अपना आधिपत्य जमाने के बाद मुस्लिम शासन की यहाँ लम्बी परम्परा चली जिसमें हुमायूं, अकबर, जहांगीर, शाहजहां, औरंगजेब का अधिकांश योगदान रहा। शासन के इस लम्बे युग में भारत की अपनी सभी श्रेष्ठ व्यवस्थाएँ, विचारधारा, चिन्तन, दर्शनादि कुण्ठित होकर रह गए। समाज की समूची व्यवस्था जर्जर हो गई। आर्थिक दृष्टि से समाज को विभाजित कर दिया। हिन्दुओं को सभी दृष्टियों से संत्रस्त किया गया। सम्पूर्ण हिन्दुस्तान में हिन्दुओं का बहुमत होते हुए भी उनकी अवस्था शोचनीय हो गई। उन पर तरह-तरह के अत्याचार किये गए। उनको द्वितीय श्रेणी के नागरिक या गुलाम समझा जाने लगा। मन्दिरों को स्थान-स्थान पर गिराकर उनके स्थान पर मस्जिदों का निर्माण कार्य प्रारम्भ हुआ। हिन्दू समाज का मनोबल गिराने के लिए देवी-देवताओं का अपमान करना शुरू किया गया। हिन्दू समाज को सर्वथा अरक्षित कर दिया। हिन्दुओं के धार्मिक मेलों व त्योहारों का मनाना बन्द कर दिया गया। संस्कृत के अध्ययन को अवरुद्ध करने की चेष्टा शासकीय स्तर पर की जाने लगी। धार्मिक ग्रन्थों को जलाया जाने लगा व गऊ-हत्या को प्रोत्साहित किया जाने लगा। हिन्दुओं का शक्तिपूर्वक, लोभ व भय से धर्म परिवर्तन प्रारम्भ हुआ। हिन्दुओं को उनके राजनैतिक अधिकारों से वंचित कर दिया गया। उनके लिए व्यवसाय बन्द कर दिए गए। समाज में हिन्दुओं की प्रतिष्ठा घटाने के लिए उनको घुड़सवारी में प्रतिबन्धित किया जाने लगा।

आर्थिक दृष्टि से भी हिन्दू समाज को अति निम्न वर्ग में पहुँचाने में शासन ने कोई कसर नहीं छोड़ी। हिन्दुओं की सम्पत्ति को राजाज्ञा से ज़ब्त करना आम बात हो गई। शासकीय नौकरी के लिए हिन्दुओं को अयोग्य ठहरा दिया गया। सभी स्थानों पर

उनकी भर्ती रोक दी गई। मुसलमानों को वड़ी-वड़ी जागीरें देकर आर्थिक दृष्टि से श्रेष्ठ वनाया जाने लगा। हिन्दुओं पर अन्यायपूर्वक अनेक प्रकार के अतिरिक्त कर लगाए गए। इस प्रकार मुगल शासकों ने, अपवाद को छोड़कर, आर्थिक दृष्टि से हिन्दुओं को निम्न वर्ग में पहुँचा दिया।

सामाजिक क्षेत्र में भी हिन्दू व्यवस्थाओं को सप्रयास भंग किया जाने लगा या स्वयं काल के प्रवाह से उसमें त्रुटियाँ आ गई थीं। जाति-पाति की व्यवस्था कर्मपरक न होकर जन्मपरक वन चुकी थी। समाज में ऊँच-नीच का रोग व्याप्त था। शूद्र लोगों को समाज में अति हीन समझा जाने लगा था। स्त्री की अवस्था भी दयनीय हो उठी थी। **'यत्र नार्यास्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता'** केवल अतीत की कहानी वन गई थी। मुसलमान समाज की देखा-देखी हिन्दू समाज में भी नारी घर की चारदीवारी के अन्दर वन्द कर दी गई और उसे केवल सम्भोग का साधन मात्र समझा जाने लगा। हिन्दू समाज की श्रेष्ठता केवल इतिहास की सामग्री वनती जा रही थी।

मुस्लिम शासकों की न्याय व्यवस्था भी एकदम हिन्दुओं के प्रतिकूल थी। न्याय व्यवस्था कुरान के अनुसार संचालित की जाती थी, जिसके व्याख्याकार मुसलमान इतर प्रत्येक प्राणी को काफिर के नाम से जानते थे और काफिर को दोज़ख पहुँचाना इस्लाम की सर्वोत्तम सेवा मानते थे। हिन्दू युवतियों के सम्मान के साथ खेलना उनकी न्याय व्यवस्था के व्याख्याकारों के अनुसार ज़न्नत का मार्ग खोलना था। इन सभी राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक व न्याय व्यवस्थाओं के अन्दर भारतीय पिस रहा था, घुट-घुटकर दम तोड़ रहा था। अपमान के घूंट पी रहा था या फिर इस्लाम मज़हव को कवूल कर रहा था।

अशान्ति की अव्यवस्था का यह वातावरण सन् १५०० से १७०० तक व उससे आगे के इतिहास का स्मरण है। परन्तु इस काल की एक सौभाग्यशाली आश्चर्यजनक वात यह रही कि इस लम्वे काल में अत्याचारों व संघर्षों की कहानी समानान्तर चलती रही। प्रत्येक काल खण्ड में मुगलों के इन अत्याचारों व अन्यायों को ललकारने वाला कोई न कोई आता रहा। फिर चाहे उसे शीश कटवाना पड़ा, चाहे वालू पर तपना पड़ा। वावर से प्रारम्भ हुए मुगल शासन के साथ ही पंजाव में गुरुओं की परम्परा प्रारम्भ हुई, जिसने प्रत्येक स्तर पर मुसलमानों का सामना किया—आध्यात्मिक स्तर पर भी और सैनिक स्तर पर भी। इस परम्परा के पहले गुरु नानक देव जी वावर के समकालीन थे और अन्तिम व दशम गुरु गोविन्द सिंह जी औरंगजेव के समकालीन थे। गुरु नानक ने तो वास्तव में आध्यात्मिक क्षेत्र में ही विचार मन्थन किया था, परन्तु ज्यों-ज्यों मुगल शासकों के अत्याचार वढ़ते गए त्यों-त्यों पंजावियों में आध्यातमवाद के साथ-साथ शौर्य-वाद व सैनिकवाद भी प्रवेश पा गया। मुगल राजाओं द्वारा भी गुरुओं पर क्रूरता का चक्र तेजी से चलता रहा।

सिक्खों की इस ऐतिहासिक गुरु परम्परा में नवें स्थान पर श्री गुरु तेगवहादुर जी का नाम आता है। गुरु तेगवहादुर जी भी गुरु परम्परा को निभाते हुए कुंठित, ग्रसित, शोषित व निम्न वर्गों के लिए सारी आयु संघर्ष करते रहे। शासकों के अन्याय व

अत्याचारों के विरुद्ध सदा छाती ठोककर खड़े होते रहे। दलितों के लिए गुरु जी सदा तत्पर रहते थे। दुःखी जनों के कष्ट निवारणार्थ गुरु तेगबहादुर जी सदा आगे रहे। देश के जिस कोने से भी गुरु जी ने दलितों की पुकार, दुःखियों की आह सुनी, तुरन्त गुरु जी वहाँ उपस्थित हुए। उत्तर हो या दक्षिण, पूर्व हो या पश्चिम, जिस स्थान पर भी भारत के लोगों को—मुसलमानों ने संतप्त किया वहीं उन्हें गुरु जी की तेग की धार सहनी पड़ी। समाज भलाई के इस कार्य में गुरु जी ने गृहस्थी के मोह व घर-बार की वातों को कभी मार्ग में नहीं आने दिया। गुरु तेगवहादुर जी कर्तव्य को सदा मोह से ऊँचा समझते थे। पुत्र जन्म के समय पिता की अनुपस्थिति का भी यही कारण था। सन् १६६५ में गुरु तेगवहादुर जी पूर्वी भारत की यात्रा पर थे। परिवार उनके साथ ही था। लेकिन पटना पहुँचकर उन्हें अपनी अर्धांगिनी को वहाँ छोड़ना पड़ा। क्योंकि उसकी कोख से विश्व का महानतम् वालक जन्म लेने वाला था लेकिन स्वयं गुरु जी पटना में नहीं ठहरे। वे ठहर भी नहीं सकते थे क्योंकि सुदूर पूर्व से आ रही दलितों की आहें उन्हें स्वयंमेव खींच रही थीं। धर्मपत्नी को वहीं पटना में व्यवस्थित करके आगे वंगाल, उड़ीसा व आसाम की ओर चल पड़े। वंगाल, असम में स्थान-स्थान पर औरंगजेव द्वारा हिन्दू मन्दिरों का विध्वंस किया जा रहा था। हिन्दुओं को तंग करने के लिए तरह-तरह के शाही फरमान निकाले जा रहे थे। उन पर भाँति-भाँति के कर लगाए जा रहे थे। गुरु तेगवहादुर जी पूर्वी भारत के इन आंचलों में दिन-रात भ्रमण करते रहे। दुःखियों के व्यथित हृदयों को धैर्य वँधाया। अत्याचारी को चुनौती दी और उसका मान मर्दन किया।

इधर जव गुरु तेगवहादुर जी धर्म की रक्षा हेतु रण क्षेत्र में अरि दल से जूझ रहे थे, उन्हीं दिनों २३ पौष विक्रमी सम्वत् १७२३ को पाटलिपुत्र (पटना) में आपके घर एक पुत्र रत्न का जन्म हुआ, जिसने आगे चलकर विश्व को दिव्य ज्योति से अभिभूत कर दिया। यही वालक गुरु गोविन्द सिंह के नाम से जाना गया।

'होनहार विरवान के होत चीकने पात'—महापुरुषों के लक्षण पहले से ही दीखने लगते हैं। वादलों की लालिमा भयंकर वर्षा की सूचना दे देती है। आकाश की स्वच्छता भानु की प्रचण्डता की साक्षी दे देती है। सरिता की नीलिमा उसकी अगाधता की द्योतक होती है। शैशव की चपलता भावी जीवन की महानता व कर्मठता को इंगित कर देती है। पर इंगित को पहचानता कौन है?

वाल कृष्ण ने पूतना व कंस का वध कर दिया था। राम ने तपोवन को राक्षसों से मुक्त कर दिया था। वचपन के कृत्य आने वाले जीवन की महानता के लक्षण होते हैं। गुरु गोविन्द सिंह जी वचपन में ही विलक्षण थे। समवयस्कों का नेतृत्व करते हुए तरह-तरह के खेल खेलना, धनुष वाण से लक्ष्य सन्धान करना, नकली दुर्ग वनाकर उन्हें नष्ट करना, शिशु सैनिकों के साथ संचालन करना और सवसे अधिक मातृभूमि की पराधीनता की कसक मन में लिए फिरना और वाल सैनिकों में भी राष्ट्र निष्ठा की वह्नि प्रज्जवलित करना—पाटलीपुत्र का कौन पुत्र वाल गोविन्द की इन वीरोचित क्रीड़ाओं से मुग्ध नहीं हो जाता होगा? परन्तु गुरु तेगवहादुर को अपने आत्मज गोविन्द की वाल

लीलाएँ देखने का समय साढ़े तीन वर्ष वाद ही मिला जब वे अपने पूर्वी प्रवास से पटना वापिस पहुँचे। पिता-पुत्र का ऐतिहासिक मिलन हुआ। तेगवहादुर जी की यह प्रथम व चिर प्रतीक्षित सन्तान थी और फिर मिलन भी पूरे तीन वर्षोपरान्त हो रहा था। वात्सल्य का सागर उमड़ आया। स्नेह की तरंगे तरंगायित होने लगीं। परन्तु वात्सल्य के इस अमृततुल्य रस का पान गुरु तेगवहादुर जी के भाग्य में वहुत कम लिखा था। पाटलीपुत्र में वहुत कम समय रहकर तेगवहादुर जी शीघ्रातिशीघ्र अपने केन्द्रीय स्थान आनन्दपुर की ओर प्रस्थान कर गए। वहाँ जाकर उन्होंने अपने परिवार को भी पंजाव में ही वुला लिया।

वाल गोविन्द के पाटलिपुत्र से विछुड़ने का दुःखद क्षण आ गया। मानो काल का चक्र एक वार अपनी धुरी पर घूमकर पुनः वृन्दावन से हटकर पाटलीपुत्र पहुँच गया हो। आनन्दपुर मथुरा वन गया हो। कृष्ण वियोग का दृश्य उपस्थित हो गया। सारा पाटलीपुत्र अव्यवस्थित हो गया। पाटलीपुत्र का कृष्ण पाटलीपुत्र छोड़कर औरंगजेवी कंस की आनन्दपुरी मथुरा को प्रस्थान कर रहा था। अव पाटलीपुत्र अपने वाल गोविन्द की लीलाओं को कैसे निहार सकेगा। धनुप से लक्ष्य सन्धान कौन करेगा ? अपनी वाल वीरोचित क्रीड़ाओं से कौन सभी को विमोहित करेगा ? परन्तु नियति वड़ी प्रवल होती है। व्रजवासियों के समस्त स्नेह, गोप वालाओं के करुण रोदन व गऊओं के मलिन चेहरों को छोड़कर जव कृष्ण मथुरा को चले ही गए थे तो वाल गोविन्द पाटलीपुत्र में कैसे रह सकते थे। सम्वन्धियों के साथ गोविन्द राय आनन्दपुर की ओर चल पड़े। पंडित शिवदत्त का इष्ट देव चला गया। फतेहचन्द की रानी का नयन तारा चला गया। पाटलीपुत्र का तो सर्वस्व ही मानों लुट गया। पाटलीपुत्र से वाराणसी, प्रयागराज, अयोध्या, मथुरा, हरिद्वार, अम्वाला, कीरतपुर होते हुए गुरु तेगवहादुर जी का परिवार मार्गशीर्ष २१ सम्वत् १७२९ को आनन्दपुर पहुँचा।

आनन्दपुर में गुरु तेगवहादुर जी ने अपने पुत्र को पंजावी, हिन्दी, संस्कृत, फारसी, अरवी पढ़ाने का यथायोग्य प्रवन्ध किया। सैनिक शिक्षा देने के लिए अलग शिक्षक नियुक्त किये। अश्वारोहण, लक्ष्य सन्धान, खड्ग प्रहार, तैराकी इत्यादि कलाओं में पारंगत शिक्षक आपको सैनिक शिक्षा देने के लिए नियुक्त किए गए। गोविन्द राय की शिक्षा अच्छी प्रकार चलने लगी। परन्तु गोविन्द राय के भाग्य में पिता की छत्रछाया अधिक देर तक नहीं लिखी थी। सम्पूर्ण हिन्दुस्थान अशान्त था। अत्याचारों का दौर चल रहा था। धर्म परिवर्तन का चक्र अपने पूरे वेग से घूम रहा था। इस्लाम का कवच धारण करने पर ही रक्षा सम्भव थी। हिन्दू विरोधी इस वातावरण से हिन्दू विचलित हो गया। परन्तु फरियाद किसके आगे करे। कौन सहोदरघाती औरंगजेव को चुनौती दे सकेगा ? कौन पिता के हत्यारे औरंगजेव को ललकार सकेगा ? औरंगजेव का विकराल शासन तन्त्र चल रहा था पूरे जोर से, पूरे वेग से। काश्मीर के व्राह्मण अत्याचारों के इस अनिल से झुलसकर आनन्दपुर आये, गुरु तेगवहादुर जी के पास फरियाद लेकर, औरंगजेव के पापों का हिसाव लेकर। पिता के पास पुत्र भी वैठा था। वह इन व्राह्मणों को उत्सुकता के साथ देख रहा था। व्राह्मणों ने अत्याचारों की लम्बी

गाथा बताई। अकल्पनीय अत्याचारों की यथार्थता का बोध कराया। धर्म परिवर्तन की मदान्धता का वेग बताया। हिन्दू जाति पर हो रहे अत्याचारों को सुनकर गुरु तेग बहादुर गम्भीर हो गए। आंखे अपने आप बन्द हो गईं। गम्भीर विचार में लीन हो गए। गोविन्दराय एकटक उनके मुख की ओर देखते रहे। एक क्षण, दो क्षण, तीन क्षण—गोविन्दराय ने मौन तोड़ा—"पिताजी आप इतने चिन्तित क्यों हो गए हैं? हिन्दुओं पर हो रहे अत्याचारों को सुनकर आप मौन क्यों हो गए हैं। बोलिए पिताजी।" पुत्र वाणी सुनकर पिता ने धीरे-धीरे आँखें खोलीं। चेहरा तेज से अभिभूत हो रहा था। सम्पूर्ण दृष्टि पुत्र के मुख पर जमाते हुए पिता बोले—"नहीं बेटा मैं मौन नहीं था। परन्तु इन अत्याचारों को बन्द करवाने के लिए किसी महान् आत्मा के बलिदान की आवश्यकता है, किसी महान् आत्मा के।" तो आपसे महान् कौन हो सकता है पिताजी?—गोविन्दराय एकदम बोल उठा बिना एक क्षण का विलम्ब किए। पिता जिस बात को इतने समय से सोच रहे थे, पुत्र ने एक क्षण में उसका निर्णय कर दिया। पिता ने पुत्र को छाती से लगा लिया। इस समय गोविन्दराय की आयु केवल साढ़े आठ वर्ष की थी। इतनी कम आयु में इतने महान् त्याग का उदाहरण इतिहास में नहीं मिलता। इस दुर्दान्त एवं भयावह संकट काल में सिक्ख जाति का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व गोविन्दराय के सशक्त कन्धों पर छोड़कर नगरवासियों को धैर्य बंधाकर गुरु तेगबहादुर जी दिल्ली की ओर चल पड़े। वह दिल्ली, जहाँ से औरंगजेब का खूनी शासन चहुँ दिशाओं में फैलता था। जहाँ से अत्याचारों की अग्नि प्रज्जवलित होकर सम्पूर्ण भारत को झुलस रही थी। इन्द्रप्रस्थ (दिल्ली) कभी धर्मपरायण पांडवों की राजधानी रहा, आज वह म्लेच्छों की आसुरी क्रीड़ा का प्रांगण बना हुआ था। असुरों से लोहा लेने गुरु तेगबहादुर जी दिल्ली पहुँच गए। ११ मार्गशीर्ष सम्वत् १७२३ को दिल्ली के चाँदनी चौक में औरंगजेब ने गुरुजी को शहीद करवा दिया। इतिहास के एक अध्याय का अन्त हो गया। लेकिन संघर्षों के कई लम्बे अध्यायों का मार्ग वह खोल गया। पापों का घड़ा पूर्ण रूप से भर गया और उसे जोर से ठोकर लगाने वाला भी कर्मक्षेत्र में आ गया। पिता चला गया परन्तु अत्याचारी का शिरोच्छेदन करने के लिए पुत्र रणक्षेत्र में कूद पड़ा।

आनन्दपुर साहिब को ही गुरु गोविन्द सिंह जी ने अपनी गतिविधियों का केन्द्र बनाया। आपका वास्तविक नाम गोविन्दराय था परन्तु बाद में अमृत पान के अवसर पर आपने अपना नाम गोविन्दसिंह रखा। अनेक प्रकार के शस्त्रास्त्र एकत्रित किए जाने लगे। दूर-दूर से युद्ध प्रेमियों ने गुरु जी की सेवा में अस्त्र-शस्त्र, घोड़े, हाथी भेजने शुरू कर दिए। अनेक प्रकार के नगारे, दुंदुभियाँ, तोप, तलवारों का केन्द्र आनन्दपुर बन गया। शस्त्र-शिक्षण की विशेष व्यवस्था की गई। प्रातःकाल शंख बजाये जाने लगे। इस सारे वातावरण ने आनन्दपुर व देशवासियों के हृदय में नव-स्फूर्ति का संचार किया। सम्मान अंगड़ाई लेने लगा। रिपु दल से दो-दो हाथ करने की चाह बलवती होने लगी। मातृभूमि पर मर मिटने की कसक जगने लगी। इन सभी गतिविधियों का केन्द्र आनन्द पुर साहिब बना। गुरु गोविन्दसिंह अत्याचारी से लोहा लेने चल पड़े।

गुरु जी का पहला संघर्ष पहाड़ी राजाओं से हुआ। पहाड़ी राजा इस बात से

वहुत खिन्न हो रहे थे कि गुरु गोविन्द सिंह ने सभी जातियों को एक समान कर दिया है। सभी लंगर में भोजन करते हैं। शूद्र तथा निम्न जातियाँ भी ब्राह्मण तथा क्षत्रियों के समान व्यवहार करती हैं। इन सभी बातों से चिढ़कर पहाड़ी राजे, जिनमें मुख्य रूप से कहिलूर का राजा भीमचन्द व कांगड़ा का राजा कृपालचन्द था, गुरु जी से उलझ पड़े। बाद में जब औरंगजेब का अधिकारी मियाखां विशाल सेना लेकर इन पहाड़ी राजाओं से कर लेने आया तो गुरु गोविन्द सिंह ही इन पहाड़ी राजाओं की सहायता को आगे आये और शत्रुओं को नाकों चने चवा दिए। परन्तु पहाड़ी राजाओं की कृतघ्नता सीमा पार कर गई। जव उन्होंने स्वयं तो औरंगजेव से क्षमा माँग ली और युद्ध का सारा उत्तरदायित्व गुरु गोविन्द सिंह पर ठोंस दिया यही नहीं दिलावर खां के साथ मिलकर रात्रि को आनन्दपुर साहिव पर आक्रमण कर दिया। परन्तु दिलावर खां की सेना गुरु जी के रणजीत नगारे की भीम ध्वनि सुनकर ही मैदान छोड़ गई। पहाड़ी राजाओं के साथ गुरु जी का यह वाद-विवाद जल्दी ही समाप्त हो गया। पर एक दूसरा विवाद चलता ही रहा। लम्बा संघर्ष मृत्यु पर्यन्त चलने वाला। यह संघर्ष था आततायी से संघर्ष, आक्रामक से संघर्ष।

"मेरी असि पाँच शिरों का रक्तपान करना चाहती है, संघर्ष को चलाने के लिए, खालसा पंथ की नींव रखने के लिए"—गुरु गोविन्दसिंह जी ने सम्वत् १७५६ के वैशाखी के ऐतिहासिक पर्व पर आनन्दपुर साहिव में एकत्रित हुए सहस्रों नर-नारियों के सम्मुख सिंह गर्जना की। उपस्थित जन समुदाय में सन्नाटा छा गया। सभी स्तब्ध रहकर गुरु जी की ओर देखने लगे। परन्तु तभी सारी संगत की दृष्टि घूम गई। लवपुर का दया राम दरवार में तनकर खड़ा हो गया। गुरु जी की आँखों में आँखें डालकर उसने देखा और दरवार आश्चर्यचकित रह गया। गुरु जी उसे दरवार के पश्चिम भाग में ले गए और रक्तरंजित असि लेकर पुनः वोले, "दूसरा ?" दिल्ली का धर्मचन्द खड़ा था। इसी प्रकार द्वारिका का मोहकमचन्द, जगन्नाथपुरी का हिम्मत राय, विदर का साहिव चन्द वारी-वारी दरवार के पश्चिम भाग में जाते रहे और गुरु जी प्रत्येक बार दरवार में आकर रक्त-स्नात खड्ग का प्रदर्शन करते रहे। इस लोमहर्षक दृश्य से पूरा समुदाय स्तब्ध था। थोड़ी देर वाद उन पाँच सिक्खों के साथ गुरु गोविन्दसिंह जी दीवान के मंच पर आए। वे परस्पर आत्मसात् और आत्मभूत हो चुके थे। सिरों पर पीत उष्णीष, अभ्र वर्ण आपाद परिधान, कमर का काषाय कटिवस्त्र, खड्गधारी, हिमसित कक्षवस्त्र, निमीलित पाणियुगल, अवनत लोचन और कांतिमान मुख मंडल—ये पाँच सिक्ख ऐसे लगते थे कि अकाल सुत गुरु गोविन्दसिंह जी से जैसे एकाकार हो गए हों। ये पाँच प्यारे हैं, इनकी जाति, कर्म, गोत्र, कुल, वर्ण, स्थान सव कुछ विलुप्त हो गया है। सभी वीरासन हो वैठ गए। अमृत तैयार किया गया। आदि ग्रन्थ की वाणियाँ पढ़ी जाने लगीं। गुरु जी ने पाँचों प्यारों को अमृत छकाया और उन्हें सिंह सजा दिया। वाद में स्वयं उनके हाथों अमृत पान किया और सिंह वने। गुरु जी गोविन्दराय से गोविन्द सिंह वन गए। गुरु जी ने इन्हें खालसा की उपाधि से विभूषित किया और सिंहों के लिए पाँच वस्तुओं कछहरा, कड़ा, कृपाण, कंघा, केश का निर्देश दिया। खालसा के वारे में गुरु जी ने

लिखा—

खालसा मेरो सतगुरु पूरा।
खालसा मेरो सज्जन सूरा॥
खालसा मेरो बुध अर ज्ञान॥
खालसे का हौं धरो ध्यान॥
हौं खालसे को खालसा मेरो।
ओत पोत सागर बुन्देरो॥

इतिहास में यह पहला उदाहरण मिलता है जब गुरु ने शिष्य को भी अपना गुरु माना हो। शताब्दियों से चली आ रही जाति-पाँति पर यह एक घोर चोट थी, जब सभी जातियाँ ऊँच-नीच, छूत-अछूत, स्वर्ण-अस्वर्ण का भेद त्यागकर एक पंथ में दीक्षित हुई हों। सदियों की दीवारें टूट गईं, हृदय के बन्धन खुल गए। अमावस का समय बीत गया। सारा समाज रणक्षेत्र बन गया। प्रत्येक प्राणी सैनिक बन गया। दलित रक्षा हेतु खालसा पंथ अभेद्य कवच बन गया।

उसके बाद सारा जीवन ही संघर्षमय हो गया। रणक्षेत्र ही कर्म-क्षेत्र बन गया। अश्वपीठ ही शैय्या बन गई। एक के बाद एक युद्धों की लम्बी शृंखला चलती रही। कभी पहाड़ी राजाओं से, कभी मुगल सेनापतियों से। छोटी-मोटी मुठभेड़ें तो प्रायः रोज ही हुआ करती थीं। परन्तु सन् १७०१ में पहाड़ी राजाओं ने औरंगजेब के दो सेना-नायकों सैदा खाँ और दीना बेग की अध्यक्षता में गुरु गोविन्द सिंह पर आनन्दपुर पर धावा बोल दिया। बड़ा घमासान युद्ध हुआ। भयंकर शरवर्षा से मुगल सेना आक्रान्त हो गई। संख्या में अधिक होते हुए भी उसकी हवाईयाँ उड़ने लगीं। दोनों सेनानायक घायल हो गए। शत्रु सेना भाग निकली। गुरु सेना ने बड़ी दूर तक उसका पीछा किया। पहाड़ी राजे हतोत्साहित होकर अपनी रियासतों को लौट गए। परन्तु पराजित होकर भी वे चुप न बैठे। गुरु जी की बढ़ती शक्ति उन्हें शूल की भाँति चुभती थी। गुरु जी ने दीन-दलितों सभी को समाज के उच्च वर्णों की पंक्ति में खड़ा कर दिया था। वही लोग जो इनके सामने कभी सिर उठाकर नहीं चलते थे आज सिंह सजकर इन्हीं को रणक्षेत्र में चुनौती दे रहे थे। कल तक जो लोग इनकी एक आवाज से थर्राने लगते थे वही आज इनकी ओर गहरी आँख से देखने लगे थे। इन राजाओं को उन्हीं के शोषित ललकार रहे थे। इसलिए पहाड़ी राजे एक पराजय से चुप होकर बैठने वाले नहीं थे। उन्होंने एक बार फिर संयुक्त रूप से गुरू जी से लोहा लेने की ठानी।

सम्वत् १७५८ को सभी पहाड़ी राजाओं ने अपनी सेना को संयुक्त करके सरदार जमतुल्ला को साथ लेकर आनन्दपुर साहिब पर धावा बोल दिया। कई दिन तक भयंकर मारकाट चलती रही। जमतुल्ला पहले ही दिन मारा गया। लाशों के अम्बार लग गए। पहाड़ी राजे इस बार दृढ़ संकल्प लेकर आए थे। अतः अत्यधिक प्राण हानि के बावजूद भी वे पीछे नहीं हट रहे थे। परन्तु आनन्दपुर को जीतना भी टेढ़ी खीर था। राजाओं ने आनन्दपुर की नाकाबन्दी करने की सोची। आनन्दपुर को चहुँ ओर से घेरे में

ले लिया। राशन-पानी की सारी व्यवस्था भंग कर दी। बीस दिन तक यह नाकाबन्दी जारी रही। परन्तु गुरु जी के सिक्खों ने द्वार नहीं खोले। राजे बहुत निराश हो गए। उन्होंने हाथी को मदिरा पिलाकर द्वार तोड़ने की असफल चेष्टा की। अन्तिम बार का निर्णायक युद्ध हुआ। वीर सिक्खों के भीषण घातों-प्रतिघातों को सहन न करती हुई राजाओं की सेना दुम दबाकर भाग निकली। और आनन्दपुर के द्वितीय युद्ध का अन्त हुआ। राजाओं ने गुरु जी से संधि कर ली।

सिक्ख सेना की शक्ति दिन-प्रति-दिन बढ़ती ही जा रही थी। सिक्ख शक्ति वास्तव में जनशक्ति थी। क्योंकि इसमें अधिकाँश वही व्यक्ति थे जो समाज में हजारों वर्षों से शूद्र माने जाते थे। जिन्हें ब्राह्मण, क्षत्रिय सदा अपने पैरों तले लताड़ते रहते थे। इन पद-दलित, संत्रस्त, कुंठित-व्यक्तियों में गुरु जी ने नव प्राण संचार किया था। नई स्फूर्ति, नई शक्ति, इनमें भरी थी। आज ये किसी के गुलाम नहीं थे। किसी की पराधीनता, किसी परसत्ता को स्वीकार नहीं करते थे। आज ये भी समाज की अग्रिम पंक्तियों में खड़े थे। ये सिंह थे, शूरवीर थे, धर्म एवं संस्कृति के रक्षक थे। परन्तु सत्ता पर कुंडली मारकर, जनता का शोषण करने वाले विषधर इनके अस्तित्व को कैसे स्वीकार कर सकते थे। दक्षिण में औरंगजेब के पास गुरु गोविन्द सिंह जी की बढ़ती शक्ति की खबरें बढ़ा-चढ़ाकर भेजी जाने लगीं। पंजाब के विप्लव का चित्र औरंगजेब के सामने पेश किया जाने लगा। मराठा शक्ति के समान ही पंजाब में सिक्ख जाति की शक्ति का भय उसके सामने दिखाया गया। औरंगजेब के सामने विशाल मराठा शक्ति थी। वातावरण में गूँजने वाला हर-हर महादेव का नया घोष था। मुगल सेना पर छापा मारते मराठा वीर थे। उसने इस सारी शक्ति का चित्र पंजाब में भी देखा। पंजाब में खालसा पंथ के रूप में बढ़ रही हिन्दू शक्ति को कुचलने का निश्चय किया।

विख्यात सेनापति सैद खां के नेतृत्व में विशाल सेना आनन्दपुर पर विजय प्राप्त करने के लिए भेजी गई। बैशाख सम्वत् १७६१ को मुगल सेना ने आनन्दपुर पर धावा बोल दिया। आनन्दपुर में केवल पांच सौ सिंह थे और दूसरी ओर अपार सेना। परन्तु एक ओर थे स्वतन्त्रता, समानता व धर्म के लिए लड़ने वाले सेनानी और दूसरी ओर थे वेतन भोगी कर्मचारी। नगारों पर चोटें पड़ने लगीं। दुंदिभियाँ बजने लगीं। भीषण संग्राम छिड़ गया—देवताओं और राक्षसों का, शोषितों और शोषकों का, शासकों और गुलामों का। मुगलों का सेनानायक सैद खां केवल पाँच सौ सिंहों की ऐतिहासिक वीरता देखकर दंग रह गया। वह मुगल सेना से अलग होकर वापिस चला गया। रमजान ने मुगल सेना की कमान सम्भाली और दुगने उत्साह से आक्रमण कर दिया। परन्तु गुरु जी के तीक्ष्ण शरों से वह भी न बच सका। घायल होकर रणक्षेत्र में गिर पड़ा। परन्तु पाँच सौ और लाखों का भला क्या मुकाबला हो सकता है? शौर्य का अलौकिक प्रदर्शन तो हो सकता है परन्तु विजयश्री का वरण नहीं। गुरु जी ने अपने पाँच सौ सिंहों के साथ आनन्दपुर नगर छोड़ दिया। नगर मुगलों के अधिकार में आ गया। लूट का खुला दौर चला। मुगल अत्याचारियों ने नगर की ईंट से ईंट बजा दी। विजय के मद को मदिरा के मद में मिलाकर मुगलवाहिनी निद्रा की गोद में निमग्न हो गई। रात्रि को सिंहों ने धावा

बोल दिया। सारी सेना में भगदड़ मच गई। सिंहों की तलवारों की तेज धार से मुगल फिर धड़ाधड़ गिरने लगे। रात भर में ही मुट्ठी भर सिखों ने आनन्दपुर को मुगल आक्रमणकारियों से खाली करवा लिया।

मुगलों की इस भीषण पराजय का संवाद दक्षिण में औरंगजेब के पास पहुँचा। दक्षिण पहले ही औरंगजेब के हाथों से खिसक रहा था। इधर पंजाब की यह हालत जान कर औरंगजेब घबरा गया। उसने सरहन्द के नाज़म वज़ीर खां, काश्मीर के नाज़म जबरदस्त खां और लाहौर के नाज़म दिलावर खां के नाम शाही फरमान भेजे कि जैसे भी हो तुरन्त आनन्दपुर का मान मर्दन करो। औरंगजेब का आदेश मिलते ही ये तीनों, अनेक पहाड़ी राजाओं को साथ लेकर, पठानों को धर्मयुद्ध के नाम पर अपनी सेना में सम्मिलित करते हुए, लाखों की संख्या में अल्ला हो अकबर का जय निनाद करते हुए आनन्दपुर की ओर चल पड़े।

वातावरण को संत्रस्त करता हुआ धर्मान्धता का यह जयघोष आनन्दपुर की पहाड़ियों से टकराता हुआ सारे पंजाब में फैल गया और सिक्खों के जत्थे के जत्थे आनन्दपुर की ओर चल पड़े। आक्रान्ता से सामना करने के लिए, समानता तथा स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए तथा सबसे बढ़कर माँ भारती को स्वतन्त्र कराने के लिए। एक बार फिर सेना आमने-सामने खड़ी हो गई। एक ओर लाखों की संख्या में मुगलों की सेना तथा दूसरी ओर सिर धड़ की बाजी लगाने वाले केवल कुछ सहस्र देश दीवाने। ज्येष्ठ २२, १७६१ को युद्ध प्रारम्भ हो गया। म्यानों से तलवारें निकल आईं। घोर शंखनाद से गगन निनादित हो गया। घात-प्रतिघात होने लगे। हाथियों की चिंघाड़ और घोड़ों की हिन-हिनाहिट से वायु मंडल संत्रस्त हो गया। लाशों के अम्बार लग गए। रक्त बहता रहा, युद्ध चलता रहा। एक मास तक लाखों मुगल सैनिक केवल मुट्ठी भर सिक्ख सैनिकों का पार न पा सके। रिपु दल ने अपनी युद्ध नीति बदल ली। लड़ने की बजाय शत्रु को घेर लिया गया। आनन्दपुर गढ़ के अन्दर सिक्खवाहिनी कैद हो गई। पानी का स्रोत मुगलों के कब्जे में आ गया। किले के अन्दर राशन समाप्त होने लगा। कुछ समय तक यह खेल भी चलता रहा। भूखे-प्यासे सिंह दुर्ग में डटे रहे। शत्रुओं का सामना करते रहे। पराजय को स्वीकार करना उन्होंने सीखा ही नहीं था। लेकिन निष्क्रिय दुर्ग में बैठे रहना भी सिंहों के स्वभाव के अनुकूल नहीं था। गुरु गोविन्द सिंह जी ने दुर्ग से बाहर निकलने का निश्चय किया। शत्रु से खुले टकराने का, जीवन-मृत्यु का प्रश्न था। मासों के युद्ध का निर्णय होने वाला था। चूहे की तरह दुर्ग में बैठना उनके वश की बात नहीं थी।

छः-सात पौष की मध्य रात्रि थी। विश्व इतिहास में अविस्मरणीय रात्रि, साहस की पराकाष्ठा थी। इर्द-गिर्द लाखों की संख्या में मुगल सैनिक दूर-दूर तक, जहाँ भी नज़र जाती मुगल सेना ही दिखाई देती। सेना ही सेना जिसका न कोई आदि था न अन्त। गुरु गोविन्द सिंह जी केवल डेढ़ हजार सैनिकों को लेकर सम्पूर्ण परिवार सहित आनन्दपुर के दुर्ग से निकल गए। रिपु दल को चुनौती देते हुए अभी कीरतपुर ही पार किया था कि शत्रुओं ने धावा बोल दिया। आगे सरसा नदी आ गई। बाढ़ का पानी किनारे तोड़कर बह रहा था। लहरें भी आकाश की ऊँचाई को छूना चाहती थीं और पानी की गति समीर

की गति को भी लज्जित कर रही थी। गुरु जी दोनों ओर से विपत्ति में थे। आगे कुआँ पीछे खाई। लेकिन उनके पास सोचने का समय नहीं था। पैदल सेना को वहीं रोक दिया। शत्रु को उलझाये रखने के लिए स्वयं नदी में कूद पड़े। नदी की तेज धारा और सिंहों की पार जाने की उद्दाम इच्छा। सभी दूसरे किनारे जा पहुँचे। सभी के सम्बन्ध विच्छेद हो गए। परन्तु एक दूसरे को खोजने का समय बिल्कुल नहीं था। पीछे से शत्रु सेना आ रही थी। माता गुजरी, गुरु जी के दो छोटे सपुत्र फतहसिंह और जोरावर सिंह सेवक गंगाराम के साथ किनारे लगे। उसका गाँव समीप ही था। वह उनको अपने घर ले गया। अपने साथ बचे सौ के लगभग अश्वारोहियों को लेकर गुरु जी रोपड़ की ओर चल पड़े। रोपड़ में पठानों के साथ संघर्ष करते हुए गुरु जी सायंकाल चमकौर साहिब पहुँचे। उनके साथ दो बड़े पुत्र और चालीस सैनिक थे। यह घटना पौष दिनांक ७ की है।

चमकौर निवासियों ने गुरु जी का हार्दिक स्वागत किया। दो दिन से भूखे सिंहों को भोजन कराया। उनके रहने की व्यवस्था एक किसान की हवेली में की गई जो गढ़ी कहलाती थी। चालीस सिंह अभी विश्राम भी न कर पाये थे कि सुबह ही शत्रु सेना ने उस कच्ची गढ़ी को घेर लिया। बचने की सारी आशा समाप्त हो गई। कहाँ चालीस सैनिक और कहाँ लाखों मुगल सैनिक। गुरु जी ने ४० सैनिकों को छोटे-छोटे दलों में विभाजित कर दिया। एक दल युद्ध के लिए जाता, वीरगति को प्राप्त हो जाता, फिर दूसरा उसका स्थान ले लेता। दो दलों के दलपति गुरु के पुत्र अजीतसिंह और जुझारसिंह नियुक्त हुए। पहले अजीतसिंह जी अपने दल को लेकर युद्धभूमि में गए। खड्ग के अविस्मरणीय हाथ दिखाते हुए वीरगति को प्राप्त हुआ। उसके बाद छोटे कुमार जुझारसिंह जी रणभूमि में आ गए। भयंकर युद्ध था। युद्ध क्या था वीरता की अलौकिक छवि थी। विद्युत के समान अपने वीरों से शत्रु सेना को चकाचौंध करते हुए जुझारसिंह रणभूमि में सदा सर्वदा के लिए सो गए। ८ पौष का दिन भारतीय इतिहास में सदा-सदा के लिए स्मरण रहेगा, जिस दिन एक पिता ने अपने हृदय के दोनों लाल सत्य, धर्म की रक्षा के लिए बलिदान करवा दिए। धन्य हैं ऐसे पिता और धन्य है उनकी सन्तान।

गढ़ी में केवल ग्यारह सिंह रह गए थे। रात्रि को यह तय हुआ कि गुरु जी गढ़ी छोडकर अन्यत्र चले जाएँ, क्योंकि स्वतन्त्रता की ज्योति को प्रज्वलित रखने के लिए गुरु जी के प्राणों की अत्यधिक आवश्यकता थी। गुरु जी सभी ग्यारह सैनिकों को लेकर भी पलायन नहीं कर सकते थे। शत्रु को धोखे में रखने के लिए गढ़ी में कुछ सैनिकों का रहना अति आवश्यक था। यह सारी मन्त्रणा ८ पौष की रात्रि को हो रही थी। अत्यन्त भयानक रात्रि थी यह। काल से एक दिन पूर्व की रात्रि। मृत्यु से एक दिन पूर्व का जीवन। जीवन और मृत्यु का संघर्ष था। गढ़ी से बाहर भी मृत्यु का भयानक साया और गढ़ी के भीतर भी मृत्यु की घुटन। दयासिंह, धर्मसिंह, मानसिंह गुरु जी के साथ जाएँगे—ऐसा निश्चय हुआ। गढ़ी का फाटक खोल दिया गया। बाहर जाने वाले अन्दर रहने वालों को मिले। आँखों से आँखें मिलीं। जीवन और मृत्यु का यह मिलन था। गुरु गोबिन्द सिंह जी बचकर खाली गढ़ी से बाहर निकल गए। शत्रु सेना हाथ मलती रह गई। सात महीने से चलाया जा रहा गोबिन्द सिंह को पकड़ने का अभियान मिट्टी में मिल गया। सिक्ख शक्ति

को समाप्त करने के सारे सपने, सपने ही रह गए। सरहिन्द के नवाव को ही सबसे ज्यादा गुरु जी से शत्रुता थी। इस युद्ध में पराजित होकर उसने गुरु जी व उनके परिवार के किसी अन्य प्राणी को पकड़वाने वाले को भारी पारितोषिक देने की घोषणा भी की। गंगाराम, जिसके पास माता गुजरी और दोनों छोटे गुरु-कुमार रहते थे यह घोषणा सुनकर विचलित हो गया। धन की चकाचौंध से वह चुंधिया गया। उसका धर्म गिर गया, उसने ईमान वेच दिया। लक्ष्मी के लिए उसने गुरु कुमारों का सौदा कर लिया और दोनों लाल सरहिन्द के नवाब को सौंप दिए। अत्याचारों का भीषण दौर शुरू हुआ। जोरावरसिंह और फतेहसिंह को इस्लाम धर्म में दीक्षित करने के भरसक प्रयास किए जाने लगे लेकिन दोनों गुरु पुत्रों ने हिन्दू धर्म छोड़कर इस्लाम धर्म में जाना अस्वीकार कर दिया। सरहिन्द के नवाब के तन-बदन में आग लग गई। इनकी यह मजाल, सत्ता से लोहा लेने का हौंसला, नजाम की आज्ञा उल्लंघन करने का साहस और फिर नजाम ने आपा खो दिया। "ये इस्लाम कवूल नहीं करते तो दीवारों में चिनवा दो।" नवाव का क्रूर आदेश सरहिन्द से उठकर सारे गगन में गूंज गया। विश्व के इतिहास में १३ पौष का दिन अनन्त काल के लिए अंकित हो गया। गुरु गोविन्द सिंह जी के दोनों सुकुमार पुत्र जिन्दा ही ईंटों की दीवारों में चिनवा दिये गए। उनका अपराध? केवल इतना कि उन्होंने सत्य धर्म का त्याग नहीं किया। मृत्यु से परिहास करने वाला यह इतिहास विश्व में और कहाँ मिलता है?

बाद में जब धर्मपत्नी ने गुरु जी से अपने पुत्रों के बारे में पूछा तो निर्लिप्त संन्यासी की तरह संगत की ओर इंगित करते हुए गुरु जी ने कह दिया—

इन पुत्रन के सीस पर
वार दीये सुत चार।
चार मुए तो क्या भया,
जीवत कई हजार॥

चमकौर की गढ़ी से साथ आये गुरु जी के तीनों साथी मार्ग भूलकर अलग-अलग दिशाओं में चले गए। शत्रु से वचने के लिए माछीवाड़े के घने व भयंकर जंगलों में गुरु जी दिन-रात अकेले भटकते रहे। शीत की कई रातें खुले आकाश के नीचे बिता दीं। कांटों भरी झाड़ियों को नंगे पैरों से पार किया। शरीर छिल गया। पाँवों में फफोले पड़ गए लेकिन गुरु जी किंचित भी विचलित नहीं हुए। मुगल आवादी व सेना से घिरे इस क्षेत्र से गुरु जी को कुछ मुसलमान शिष्यों ने मुसलमानी पीरों के वेश में पालकी में बिठाकर सुरक्षित स्थान पर भेज दिया। अनेक स्थानों पर ठहरते हुए, शक्ति संचय करते हुए, सिक्ख सैनिकों को एकत्रित करते हुए गुरु गोविन्द सिंह जी ने खिदराणा (मुक्तसर) के स्थान पर पड़ाव डाल दिया। सरहिन्द की सेना तो गुरु जी का पीछा कर ही रही थी। यहाँ फिर मोर्चा जम गया परन्तु इस युद्ध में मुगल सेना को वुरी तरह से पराजित होना पड़ा क्योंकि जल के अभाव में मुगल सेना के लिए युद्ध जारी रखना असम्भव हो गया। खिदराणा के इस युद्ध के बाद गुरु जी भ्रमण करते-करते तलवण्डी साबो पहुँचे। इस स्थान

पर गुरु जी कुछ देर के लिए स्थाई रूप से रहे। गुरु जी का यह निवास साहित्यिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्व रखता है। गुरु ग्रन्थ का आज जो रूप उपलब्ध होता है उसे वर्तमान रूप यहीं दिया गया था। इसी स्थान पर से गुरु जी ने औरंगजेब को दक्षिण में एक पत्र लिखकर भेजा जो जफरनामा के नाम से प्रसिद्ध है। भाई दयासिंह के हाथ जफरनामा औरंगजेब के नाम प्रेषित करके गुरु जी पंजाब से दक्षिण की ओर चल पड़े। मार्ग में ही उन्हें औरंगजेब की मृत्यु की सूचना मिली औरंगजेब की मृत्यु ने स्थिति को एकदम बदलकर रख दिया। अत: गुरु जी तुरन्त दिल्ली की ओर चल पड़े। औरंगजेब की मृत्योपरान्त उसके पुत्रों मुअज्जम तथा आजम में सत्ता प्राप्ति के लिए युद्ध की तैयारियाँ होने लगीं। औरंगजेब का ज्येष्ठ पुत्र मुअज्जम गुरु जी का पूर्व परिचित था उसने गुरु जी से सहायता की प्रार्थना की। गुरु जी ने उसे विजय का आश्वासन तो दिया लेकिन सैनिक सहायता दी या नहीं इसका निश्चित प्रमाण नहीं मिलता। अस्तु दोनों भाईयों का आगरे के निकट जमकर युद्ध हुआ और मुअज्जम बहादुरशाह के नाम से गद्दी पर बैठा। इस सारे कांड के बाद गुरु जी दिल्ली से आगरे की ओर चल पड़े और वहीं रहकर धर्म प्रचार करने लगे। बहादुर शाह ने एक दिन आपको मिलने के लिए बुलाया और एक मूल्यवान खिलअत, एक धुगधुगी और एक कलगी भेंट की। गुरु जी आगरे में टिके रहे। १७०७ को बहादुर शाह राजपूतों का विद्रोह दबाने के लिए राजस्थान की ओर चल दिया और वहीं से दक्षिण में अपने छोटे भाई के विद्रोह को कुचलने के लिए दक्षिण की ओर चल दिया। कुछ समय के बाद गुरु जी नान्देड़ पहुँच गए। नान्देड़ में रहते हुए गुरु जी को एक महन्त-वैरागी के बारे में पता चला, जिसके बारे में कहा जाता था कि उसने जिन्न भूत वस में किये हुए हैं। गुरु जी उस विलक्षण व्यक्ति को देखने उसके डेरे पर गए। वैरागी बाहर गया हुआ था। गुरु जी उसके आसन पर बैठ गए। वैरागी ने बाहर से आकर गुरु जी को आसन से गिराने के लिए तान्त्रिक विद्या के अनेक प्रयोग किए लेकिन सफलता न मिली। वह गुरु जी के चरणों पर गिर पड़ा। गुरु जी ने उसे कर्म का उपदेश दिया। मातृभूमि की दयनीय अवस्था का चित्रण किया। विदेशियों के अत्याचारों से अवगत कराया। वैरागी पर इसका अद्‌भुत प्रभाव पड़ा। गुरु जी ने उसे अपना उत्तराधिकारी बनाकर अपने कार्य को बढ़ाने के लिए पंजाब भेजा। यही साधु आगे चलकर बन्दावैरागी के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

नान्देड़ पहुँचने के एक मास उपरान्त ही गुरु जी का देहावसान हो गया। "गुरु शौर्य में लिखा है"—कि एक पठान कुछ दाँव लेकर प्रभु के पास आया और दो तीन घड़ी वहाँ बैठा रहा परन्तु उसका दाँव न लगा क्योंकि वहाँ बहुत लोग उपस्थित थे। उस दिन वह चला गया और दूसरे दिन फिर आया। उस दिन भी वह दो-तीन घड़ी बैठकर घात लगाता रहा परन्तु उस दिन भी उसे सफलता नहीं मिली, और वह घर चला गया। इस प्रकार वह कई दिन आता रहा। परन्तु उसका दांव न लगा। परन्तु अनेक बार आने के कारण उसने इस भेद का पता पा लिया कि उसके काम का समय संध्या का है। वह दुष्ट एक दिन शाम के समय आया। गुरु जी ने उसे निकट बुलाया और अपने पास बैठाकर प्रसाद दिया। जिसे उस दुष्ट ने हाथ में लेकर मुँह में डाल लिया। उस समय वहाँ कोई

सिंह नहीं था। केवल एक रक्षक था, वह भी ऊंघ गया था। इतने में प्रभु स्वयं विश्राम करने लगे। अवसर देखकर उस पठान ने उन पर छुरे से आक्रमण कर दिया। उसने उन पर दो वार किए कि गुरु जी ने निकट रखी अपनी तलवार के एक ही वार से उस दुष्ट को वहीं मार गिराया। फिर उन्होंने आवाज देकर शिष्यों को बुलाया। झटपट बहुत से लोग वहाँ आ गए और उसके दो साथियों को जो डेरे से बाहर खड़े उसकी प्रतीक्षा कर रहे थे मार डाला। डेरे के अन्दर पड़े तीसरे पठान के शव को देखकर सिक्ख उस पर तलवार चलाने ही वाले थे कि गुरु जी ने कहा यह तो कभी का मर चुका, इसे यहाँ से हटाओ। अभी तक किसी को यह पता नहीं लगा था कि गुरु स्वयं जख्मी हो गए हैं। परंतु जब वे उठे और लड़खड़ाए तब उन्हें इस दुःखद घटना का पता लगा और वे दुःख में डूब गए। गुरु ने सबको सान्त्वना दी कि भय की कोई बात नहीं है। अकाल ने उनकी रक्षा की है। इसी समय घाव धोकर सी दिये गए। परन्तु जब उन्होंने उठने का प्रयास किया तो धागे टूट गए। घाव फिर सी दिये गए और उन पर मरहम लगा दी गई। तीन चार दिन व्यतीत हुए। बहुत से सिक्ख उनके दर्शन के लिए आ रहे थे। उनकी प्रार्थना पर गुरु जी दरबार में आए। फिर कुछ दिन व्यतीत हुए। सिक्खों में आनन्द छा गया। परन्तु वे समझ गए थे कि उनका अन्त समय निकट आ गया है। एक रात्रि को थोड़ा भोजन करके वे लेट रहे। आधी रात से चार घड़ी समय अधिक व्यतीत हुआ कि उन्होंने सब सिक्खों को बुलाया। सभी सिक्ख उनके निकट एकत्र हो गए और गुरु गोबिन्द सिंह जी ने उनसे अन्तिम बार "वाहि गुरु जी की फतेह" कही और उनकी आत्मा ने अपनी नश्वर देह को छोड़ दिया। आक्रमणकारी कौन थे ? किसलिए गुरु जी को मारना चाहते थे ? इस सम्बन्ध में इतिहासकारों में मतभेद पाया जाता है परन्तु प्रायः कहा जाता है कि पठान सरहिन्द के नवाब ने गुरु जी की हत्या के लिए भेजे थे।

देहावसान के समय गुरु जी की आयु ४२ वर्ष की थी और विक्रमी १७६५ की शुचि पंचमी थी।

चतुर्थ अध्याय

गुरु गोबिन्द सिंह : कृति परिचय

आधुनिक आलोचना व साहित्य में रीतिकाल की उन कृतियों व कृतिकारों की चर्चा रही है जिनका सम्पूर्ण काव्य कौशल वासना की तंग कलुषित वीथियों में टिमटिमाकर रह गया है। इनसे इतर साहित्यकारों में केवल भूषण का नाम ही यथोचित सत्कार पा सका है। रीतिकाल के एक अन्य प्रमुख कवि, जिन्होंने इस काल की जघन्य प्रवृत्तियों से परे हटकर राष्ट्रीयता का शंखनाद किया, वीरता के गीत गाए, भक्ति भावना से सराबोर होकर आध्यात्मिकता का दीप प्रज्वलित किया, गुरु गोबिन्द सिंह हिन्दी साहित्य से उपेक्षित क्यों रहे ? यह आश्चर्य व खेद का विषय है। भाव पक्ष व कला पक्ष दोनों की दृष्टि से गुरु गोबिन्दसिंह का साहित्य रीतिकाल के सभी कवियों से होड़ लेने में तो समर्थ है ही, साथ ही उनका भक्ति-साहित्य भी भक्ति-काल के कवियों से इक्कीस ही पड़ता है। उनके भक्ति-साहित्य में सूरदास की भाव प्रवणता, कबीर की प्रवृत्ति, तुलसीदास की गम्भीरता व मीरा का समर्पण एक साथ उपलब्ध होता है।

दशम ग्रन्थ गुरु गोबिन्दसिंह जी का एकमात्र प्राप्य ग्रन्थ है जिनमें गुरु जी की विविध विषयों को लेकर लिखी गई रचानाएं उपलब्ध होती हैं। गुरु गोबिन्दसिंह जी की भक्तिपूर्ण रचनाओं को भी दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—

(क) विशुद्ध भक्तिपूर्ण रचनाएं : जापु, अकाल स्तुति, ज्ञान प्रबोध,

(ख) उद्देश्यपूर्ण रचनाएं : चौबीस अवतार, चण्डी चरित्र ।

दशम ग्रन्थ की मान्यता का अनुमान इसी तथ्य से लगाया जा सकता है कि प्रत्येक सिक्ख मन्दिर में इसकी एक प्रति आवश्यक मानी जाती है। दशम् ग्रन्थ के विषय में कहा जाता है कि गुरु गोबिन्द सिहजी द्वारा समय-समय पर उच्चरित वाणी को बाद में भाई मनीसिंह जी ने संग्रहीत किया और इसका नाम दशम पातशाह का ग्रन्थ प्रसिद्ध हुआ। यही ग्रन्थ बाद में दशम ग्रंथ के नाम से जाना गया। इस ग्रन्थ में १७१९५ छन्द १६ प्रमुख रचनाएं व १४२८ पृष्ठ हैं। रचनाओं के नाम जापु, अकाल उस्तुति, विचित्र नाटक, चण्डी चरित्र (उक्ति विलास), चण्डी चरित्र दूसरा, वार श्री भगवती जी की, ज्ञान प्रबोध, चौबीस अवतार, ब्रह्मावतार रुद्रावतार, शब्द हजारे, सवैये खालसा महिमा, शास्त्र नामामाला, चरित्रोपाख्यान और जफरनामा है। क्रमबद्धता व संकलन

के संबंध में कुछेक विद्वानों में मतभेद भी है। डॉ० महीपालसिंह आत्मकथा भाग व अवतारों के सम्बन्ध में सभी कथाओं को मिलाकर विचित्र नाटक की रचना मानते हैं। वास्तव में ब्रह्मावतार व रुद्रावतार आदि कथाओं को अलग मानने का कारण उनके अन्त में 'इति श्री विचित्र नाटक ग्रन्थ रुद्रावतार प्रबन्ध' आदि लिखा होना है।

१. जापु साहिब

दशम ग्रन्थ में सर्वप्रथम संग्रहीत रचना जापु साहिब ही है। गुरु नानक के जपुजी व गोविन्दसिंह के जापु में परस्पर अत्यधिक साम्य है। जपुजी भी सम्पूर्ण रूप से आध्यात्मिक भावभूमि पर आधारित है और जापु भी उससे कुछ भिन्न नहीं। जपुजी में भी बाह्य रूप से दिखाई देने वाले तर्क-जाल को फांद कर साधक जब अन्दर झांकने का प्रयास करता है तो उसे दर्शन की दुनिया से दूर श्रद्धा, भाव व आस्था की भूमि पर विचरण करने वाले गुरुनानक के दर्शन होते हैं। जापु में भी आस्थावान गुरु गोविन्दसिंह का अपने इष्ट देव का पुनि-पुनि स्मरण ही है।

वास्तव में जापु को भारत की सुदीर्घ स्तोत्र-परम्परा में रखा जा सकता है। जिसमें विष्णु सहस्रनाम आदि ग्रंथों का क्रम आता है। इसी के आधार पर सिक्ख मत के अनेक विद्वानों ने जापु में अकाल पुरुष की स्तुति की बहुलता देखकर उसे अकाल सहस्रनाम का नाम देना भी शुरू कर दिया था। परन्तु गहरे पैठने पर परम्परावादी स्तोत्रों व जापु में एक स्पष्ट अन्तर दृष्टिगोचर होता है। स्तोत्रों में प्राय: सगुण देवी-देवताओं का नाम स्मरण व गुण चित्रण होता है जबकि जापु का आराध्य देव निर्गुण निरंजन परमेश्वर है। जो अन्तर सगुण व निर्गुण ब्रह्म में है वही अन्तर स्तोत्र व जापु में है। जापु के आराध्य देव का स्वरूप देखिए—

चक्र चिन्ह अरु वरणा जात अरु पात नहिन जिह ॥
रूप रंग अरु रेख भेख कोउ कहि सकति किह ॥
अचल मूरति अनुभउ प्रकास अमितोज कहिज्जै ॥
कोटि इन्द्र इन्द्रानि साहि सालणि गणिज्जै ॥
त्रिभुवन महीप सुर नर असुर नेत नेत बन त्रिण कहत ॥
तव सरब नाम करथै कवन करम नाम वरणन सुमत ॥

जापु के प्रतिपाद्य इष्ट की एक मात्र विशिष्टता उसका अकालत्व है। इसी की प्रतिष्ठा के लिए इस वाणी की समस्त भावराशि तथा नामावलि प्रयुक्त की गई है। इस दृष्टि से जापु के निर्गुण ईश्वर को अकाल की उपाधि प्रदान की गई है और अकाल ही गुरु कवि के पास ऐसा अभिधान है जो ईश्वर की अनेक अभिभूतियों और कवि की अभिप्रेत धारणाओं को व्यक्त करने की क्षमता रखता है। यही कारण है कि जापु में मंगल आख्यान के बाद जिस अभिधान का स्मरण किया गया है वह अकाल ही है जिसके दर्शन 'नमस्त्वं अकाले, नमस्त्वं कृपाले, की प्रथम पंक्ति मे होते हैं। इसी अकाल अभिधान को जापु के प्रणेता ने बार-बार दुहराया है।'[1]

जापुसाहिब में कुल छन्द संख्या १९९ है। कुछ संग्रहों में २०० भी है। रचना में छोटे छन्दों का प्रयोग किया गया है। अलंकारों में अनुप्रास प्रधान है और छन्दों में भुजंग प्रयात। कुल १९९ छन्दों में से ६५ भुजंगप्रयात छंद है। एक छप्पय छन्द, ३२ चाचरी छन्द, ८ चरपट छन्द, १७ मधुमार छन्द, ४१ भगवती छन्द, ५ रसावल छन्द, १५ हरितोलयात छन्द, ८ एक अक्षरी छन्द हैं। नया छन्द शुरू करने पर प्रत्येक स्थान पर 'त्व प्रसादि' लिखा हुआ है। केवल एक स्थान पर जहां चाचरी छन्द के बाद भगवती छन्द के ३० पद्य प्रारम्भ होते हैं 'त्व प्रसादि कथते, लिखा हुआ है। जहां तक भाषा का प्रश्न है, जापु की भाषा तत्सम्पूर्ण हिन्दी है। परन्तु अरबी, फारसी के शब्द भी मिल जाते हैं। कहीं-कहीं संस्कृत शब्द के साथ फारसी शब्द सामूहिक अर्थ में भी जोड़ा गया है। जैसे—

कि सरवं कलीमै, कि परमं फहीमै

फारसी शब्द कलीम (शक्ति सम्पन्न) के साथ सर्वम तथा फहीम (बुद्धिमान) के साथ परम्। कई स्थानों पर संस्कृत शब्द के साथ फारसी प्रत्यय व इसका विलोम भी हुआ है; जैसे अनेक का अनैकुल सदैव का सदैवल आदि।

२. अकाल उसतुति

अकाल उस्तुति गुरु गोविन्द सिंह जी की दूसरी विशुद्ध भक्ति प्रधान रचना है। गुरु गोविन्दसिंह के दार्शनिक विचारों व भक्ति भावना को समझने में यह रचना परम सहायक है। इस रचना का प्रारंभ 'उतारवासे दसखत का पातसाही १०' से होता है। इसके नीचे निम्न छन्द लिखा हुआ है—

अकाल पुरख की इच्छा हमनै
सर्व लोह दी रछिया हमने ॥
सर्व काल जी दी रछिया हमने।
सर्व लोह जी दी सदा रछिया हमने ॥

तदुपरान्त 'आगे लिखारी के दसखत' लिखा हुआ है।

'अकाल उसतति' विविध छन्दों में लिखी गई २७१ पदों की विशुद्ध भक्ति-परक रचना है। इसका अन्तिम २७२ वां पद अपूर्ण है। इसका भाव शायद वेदों के नेति-नेति से लिया होगा, जिसका अर्थ है कि ब्रह्म अपार है। इसके बारे में कुछ पता नहीं चलता। रचना के बारे में प्रारम्भिक विचार निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है—

(क) नामआधुनिक साहित्य में इसका नाम 'अकाल उसतति' ही सर्व स्वीकृत है लेकिन कुछ प्राचीन प्रतियों में इसका नाम "अकाल पुरसु की उस्तति" व 'उस्तति श्री अकालजी की' भी है। परंतु जैसाकि कहा जा चुका है—आज के शोधशास्त्री इसको इतना महत्त्वनहीं देते क्योंकि इससे भाव में तो कोई अन्तर नहीं पड़ता।

(ख) रचयिता

भाई मनीसिंह जी वाली बीड़ में 'अकाल उसतति, का प्रारम्भ निम्न प्रकार से होता है—

उतार खासे दसखत का।

पातसाही। १० ॥

अकाल पुरख की रच्छा हमनै।
सर्व लोह दी रछिया हमनै ॥
सर्व काल जी दी रछिया हमनै।
सर्व लोह जी दी सदा रछिया हमनै ॥

(आगे लिखारी के दस्तखत)

इससे यही प्रमाणित होता है कि मंगलाचरण का पद गुरु गोविन्दसिंह जी ने स्वयं अपने हाथों लिखा होगा और आगे अपने हस्ताक्षर कर दिए होंगे। बाकी पाठ गुरु गोविन्दसिंह जी ने उच्चारित किया होगा और किसी अन्य ने लिखा होगा। (शायद भाई मनीसिंह जी ने।) रचना निस्सन्देह गुरु गोविन्द सिंह जी की ही है। अकाल उसतति की कई पंक्तियाँ जापु से समानता रखती हैं। जहाँ तक भावों का प्रश्न है, वे तो अकाल उसतति व जापु में समान ही हैं।

(ग) रचना काल

अकाल उसतति का रचना काल निर्धारित करते हुए श्री रणधीरसिंह जी लिखते हैं—'११वें से २००वें पद तक विक्रमी संवत् १७४३-५५ के मध्य में और २०१वें पद से आगे के सभी पद 'विचित्र नाटक' ग्रन्थ की प्रस्थापना हेतु विक्रमी संवत् १८५५ में लिखे गए। इन छन्दों की कुल संख्या २७२ हो गई परन्तु ये सभी एक ही समय नहीं लिखे गए।

(घ) रचना की पृष्ठभूमि

अकाल उसतति को मुख्य रूप से तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है—

(१) अकाल पुरुष की स्तुति (१-२०० तक) तथा कुछ अन्य पद,
(२) आत्मा बुद्धि संवाद (२०१-२१०)
(३) चण्डी स्तुति (२११-२३०)।

प्रथम भाग अकाल पुरुष की स्तुति, भाव व कथ्य के लिहाज से 'जापु' के अत्यन्त समीप है। जापु व अकाल स्तुति की ब्रह्म कल्पना न केवल समानता लिए हुए हैं बल्कि शब्द समानता भी दृष्टिगोचर होती है।

दूसरे भाग में आत्मा बुद्धिसंवाद की पृष्ठ भूमि उपनिषदों, गोष्ठियों व प्रश्नो-

त्तरियों में खोजी जा सकती है। 'चण्डी स्तुति' को पंडित नारायणसिंह 'भगवती पद्य' पुण्य वल स्तोत्र का स्वतन्त्र अनुवाद मानते हैं।

अकाल उसतति का मुख्य विषय उस अकाल पुरुष, ओंकार ब्रह्म की स्तुति रहा है लेकिन इसके साथ-साथ ब्रह्म को लेकर प्रचलित वाह्याडम्बरों का भी गुरु जी ने विरोध किया है। अकाल उसतति के गुरु गोविन्द सिंह सांसारिकता को भी त्याज्य समझते हैं। उनकी दृष्टि में सारा संसार नश्वर है। सारे जीवों की मृत्यु अवश्यम्भावी है अतः भौतिकता से मोह रखती है, जो मूर्खता है। अकाल उसतति का स्वर भौतिकता से आध्यात्मिकता की ओर, वाह्य से अन्तर की ओर इंगित करता है।

(क) ब्रह्म का स्वरूप

अव्यक्त तेज अनभउ प्रकास।
अच्छे सरूप अद्वै अनास ॥
अनतुट तेज अनखुट भण्डार।
दाता दुरन्त सरव प्रकार ॥१२१॥ अ० स्तुति ॥
आसन अडोल अनभूत कर्म।
दाता दयाल अनुभूत धर्म ॥१२२॥ अ० स्तुति ॥

(ख) भौतिकता का खण्डन व जीव की नश्वरता

जोगी जती ब्रह्मचारी वड़े-वड़े छत्रधारी,
छत्र की ही छाया कई कोस लौं चलत है।
वड़े वड़े राजन के दावति फिरति देस,
वड़े-वड़े राजनि के दर्प को दलत है।
मान से महीप औ दिलीप कै से छत्रधारी
वड़े अभिमान भुजदण्ड को धरत हैं।
दारा से दिली सर दुर्योधन से मानधारी,
भोग भोग भूम अन्त भूम में मिलत हैं ॥७८॥अ० स्तति

(ग) वाह्याचारों की निन्दा

तीरथ नहान दया दम दान सुसंजम नेम अनेक विसेखै।
वेद पुरान कतेब कुरान जमीन जवान सवान के पेखै।
पउन अहार जती जब धार सवै सुविचार हजारक देखै।
श्री भगवान भजे विन भूपनि एक रती विन एक न लेखै ॥२४॥ अ० स्तुति

(घ) चण्डी स्तुति

दुरजन दल दंडन असुर विहंडन दुसट निकंदण आदि व्रिते।

चहरासुर मारण पतित उधारण नरक निवारण गूढ़ गते।
ऊछै अखंडे तेज प्रचंडे खंड उदंडे अलख मते।
जै जै होसी महखासुर मरदिनि संभकमरदिन छत्र छिते ॥२११॥ अ० स्तुति

"अकाल स्तुति गुरु गोविन्द सिंह जी की विशुद्ध भक्तिपूर्ण एवं पक्षपात रहित रचना है। गुरु गोविन्द सिंह जी की विभिन्न रचनाओं में उनके विभिन्न रूपों की प्रतिष्ठा होती है। रामावतार, कृष्णावतार और चण्डी चरित्रों में उनका एक पक्षीय रूप सामने आता है शत्रुसंहारक एवं मित्र रक्षक इन अवातारों की कथा का वर्णन वे भक्ति के भाव से नहीं वरन् तात्कालिक उद्देश्य की प्राप्ति के लिए करते हैं और इसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उनसे वर चाहते हैं। अकाल स्तुति में उनका निष्पक्ष रूप सामने आता है। यहां वे शत्रु, मित्र, सधर्मी, विधर्मी के भाव से परे हैं और विशुद्ध भेद रहित मानवता के उपासक हैं। गुर गोविन्द सिंह जैसे बहुमुखी व्यक्तित्व वाले व्यक्ति का महत्तम रूप इसी रचना में मुखर होता है। जहां वे मनुष्य और मनुष्य की ईश्वर प्राप्ति में विविधतापूर्ण साधना केन्द्र में किसी प्रकार का अन्तर स्वीकार करने तैयार नहीं हैं।

१. अकाल पुरुष के विविध रूप

'अकाल उसतति' में गुरुगोविन्दसिंह जी ने ब्रह्म के विभिन्न रूपों की वन्दना की है। इस स्तुति अथवा वन्दना में ब्रह्म के दोनों स्वरूपों—निर्गुण तथा सगुण की चर्चा की गई है परन्तु एक बात प्रथम दृष्टि से ही स्पष्ट हो जाती है कि गुरु जी का मन अकाल पुरुष या ब्रह्म के शान्त या ओजस्वी रूप को ही स्वीकार करता है। गुरु जी लिखते हैं—

प्रणवो आदि एकंकारा।
जल थल मही अल की ओ पसारा॥
आदि पुरष अविगत अविनासी।
लोक चतुर्दस जोति प्रकासी॥१॥

अकाल पुरुष का यही स्वरूप लगभग सारी रचना में छाया हुआ है। (चंडी स्तुति के कुछ पद छोड़कर जहां गुरु जी सगुणोपासक दीखते हैं।) भावावेश में आकर गुरु जी ने चाहे कुछ स्थानों पर अकाल पुरुषके लिए सांसारिक कृत्य स्वीकार किए हैं—

कहूं शस्त्र धारी कहूं विद्या को विचारी,
कहूं मारुत अहारी कहूं नार के निकेत हों॥१४॥ अ० स्तुति

परन्तु स्थान-स्थान पर वे अकाल के निर्गुण स्वरूप को स्पष्ट करते जाते हैं—
अनखंड अतुल प्रताप, सब थापियो जिही थाप।
अनखेद, भेद अछेद, मुख चार गावत वेद॥३४॥ अ० स्तुति

अकाल पुरुष के प्रणव व १ ओंकार (एकंकार) स्वरूप पर ही सिक्ख दर्शन का भव्य महल स्थापित हुआ है। गुरु गोबिन्द सिंह जी ने भी इसे अकाल स्तुति के

आरम्भ में ही स्वीकार किया है। गुरु नानक देव जी भी 'जपुजी के आरम्भ में, १ ओंकारसतिनामु...कहते हैं। ऋग्वेद में भी कहा गया है: एकं सद् विप्राः बहुधावदन्ति, "एकमेक अद्वितीयं ब्रह्म" भारतीय संस्कृति में ओंकार का विशेष महत्त्व समझा जाता है। सिक्ख धर्म में १ ओं (१उ) इस प्रकार लिखा जाता है। किन्तु अन्य स्थलों में ऊं (ऊंकार), ओ३म्, ओम्, ओंकार, ओङ्कार के रूप में भी लिखा जाता है। यह ओंकार निर्गुण सगुण दोनों प्रकार के ब्रह्म का वाचक है। ओंकार को प्रणव भी कहते है।'[2]

गुरु गोविन्दसिंह जी ने ब्रह्म की 'काल' कहकर भी स्तुति की है। हिन्दू दर्शन में भी ब्रह्म को 'काल' स्वरूप माना गया है। विष्णु पुराण व अन्य ग्रन्थों में ब्रह्म को काल कहा गया है। अकाल स्तुति में भी उन्होंने २० छन्दों में चण्डी स्तुति की है। चण्डा दुर्गा तो है ही काल स्वरूपा भी है। गुरु जी जब उसकी 'महिषासुर-मर्दनी, प्रधरखन (दुष्टोंके कलेजों को धड़काने वाली), प्रभच्छन (खा जाने वाली), चंडासुर, चंड-मुंड विमुंडन, खंड-अखंडन, रक्तासुर आंचन जुध प्रमाचन विर्द नराचन, स्रोणंत अंचिनी अनल विपंती, जोग जयंती खडग धरे' कह कर वन्दना करते हैं तो काल का स्वरूप और भी भयंकर हो जाता है।

अकाल स्तुति के प्रारम्भ में ही गुरु जी कहते हैं कि मुझको उस सर्वकाल की सत्ता प्राप्त है—

सर्व काल जी दी रछिआ हमनै।

वह ब्रह्म तो सब का काल है परन्तु आप काल की फांसी से परे हैं।

सब को काल सबन को करता।

....

काल फास के बीच न आयो ।।१।। अ० स्तुति ।।

वह जन्म मरण से परे है और कालविहीन है। हरि जनम-मरण विहीन, कल काल कर्म विहीन! ब्रह्म स्वयं तो काल से परे है परन्तु सारे जगत् का काल उसकी मुट्ठी में बन्द है। ऐसा निश्चित है। गुरु जी सदा भयंकर के उपासक रहे हैं। उनका असली कर्म क्षेत्र तो युद्ध क्षेत्र ही था। कृष्णावतार, रामावतार में भी उन्होंने लीला की अपेक्षा युद्धों का अधिक सजीव वर्णन किया है। ब्रह्म का वात्सल्यपूर्ण रूप गुरु जी के लिए कुछ विशेष महत्ता नहीं रखता था और न ही समय को उसकी आवश्यकता थी। मुगल सत्ता से संघर्ष में ब्रह्म का काल स्वरूप ही प्रेरणामयी हो सकता था, लीलामय स्वरूप नहीं। इसीलिए गुरुजी ने काल की वन्दना की है। काली का यह भयानक चित्र दिल दहलाने के लिए पर्याप्त है :

डांवरु डबके बबर बबंके भुजा फरंकै तेज वरं।
लकुड़ी आ फाधै आयुध बाधै सैन विमर्दन काल असुरं।
अस्ययुध चमकै भूषण दमकै अतिसित असकै फुकं फणं।
जै जै होसी महिसासुर मरदिनी रम्भक मर्दन दैतजिणं ।।२१३।:

एक और चित्र देखिए—

दुष्ट हरता सृष्टि करता दयाल लाल गोविन्द।
मित्र पालक सत्रु घालक दीन दयाल मुकन्द।
अघौदंडन दुष्ट खंडन काल हूं के काल।
दुष्ट हरणं पुष्ट करणं सर्व के प्रतिपाल ॥१६४॥ अ० स्तुति

अकाल पुरुष के ये स्वरूप उद्देश्यपरक हैं। 'अकाल उसतति' में तो गुरु जी १ ओंकार, प्रणव के पुजारी हैं और उसके स्वरूप के बारे में भी अन्त में लिखते हैं—

आदि अन्त न मध्य जाको भूत भव्ये भवान।
सत्य द्वापुर तृतिय कलियुग चतुर काल प्रधान।
ध्याया ध्याय थके महामुनि गाय गन्धर्व अपार।
हार हार थके सर्व नहीं पाईऐ तिहपार ॥१६६॥ अ० स्तुति ॥

२. अकाल पुरुष के लिए प्रयुक्त सम्बोधन

'अकाल उसतति' में गुरु गोविन्द सिंह जी ने ब्रह्म के लगभग सभी पूर्व वर्णित स्वरूपों को सम्बोधित किया है। (सम्बोधित का यहां परम्परागत अर्थ 'किसी का नाम लेकर पुकारना' न लिया जाना चाहिए, बल्कि इसका इतना ही भाव है कि गुरु जी ने ब्रह्म या अकाल पुरुष के सभी रूपों का वर्णन किया है।) इनको चार भागों में विभक्त किया जा सकता है—

(क) निर्गुण रूप को सम्बोधन। :
(ख) सगुण रूप को सम्बोधन। : (सम्बोधन से स्तुति का भाव भी
(ग) सांसारिक रूप को सम्बोधन। : लिया जा सकता है।)
(घ) शस्त्र धारी शत्रु संहारक रूप को सम्बोधन।

अकाल उसतति विशुद्ध भक्तिपरक रचना है। इसमें सर्वत्र ब्रह्म का निर्गुण रूप छाया हुआ है। इसका विशद वर्णन तो आगे किया जाएगा परन्तु एक-दो उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

वरण चिह्न जिह जात न पाता।
सत्र मित्र जिह तात न भ्राता।
सब ते दूरि सभन ते नेरा।
जल थल मही अल जाहि वसेरा ॥४॥ अ० स्तुति

न रोगं न सोगं न मोहं न मातं।
न करमं न भरमं न जन्मं न जातं।
अद्वैखं अभेखं अजोनी सरूपे ॥६४॥। ।अ० स्तुति

सगुण स्वरूप का रचना में महत्त्व गौण है परन्तु फिर भी कई स्थानों पर ब्रह्मको दीन-दयाल वैरी साल, महादानी, श्याम, भवानी, धर्मधामी, यति, योगी विद्या में प्रवीन, छत्रधारी आदि कहा गया है।

भूपन के भूप हो कि दाता महादान हो।
प्रान के बचैया दूध पूत के दिवैया।
रोग सोग के मिटैया किधौं मानी महायान हो।
विद्या के विचार हो कि अद्वै अवतार हो।
कि सिद्धता की सूरति हो कि सुद्धता की सान हो।
जीवन के जाल हो कि काल हूं के काल हो।
कि सत्रन के सूल हो कि मित्रन के प्राण हो ॥१६॥ अ० स्तुति।

गुरु जी सदा कर्मक्षेत्रे, रणक्षेत्रे, धर्मक्षेत्रे जूझते रहे। अतः संसार से परे ब्रह्म का स्वरूप उनके चिन्तन को तो चाहे प्रभावित कर सके, उनके कार्य को कभी प्रभावित न कर सका। उन्होंने विश्व में रमने वाले अकाल पुरुष के रूप को सम्बोधित किया है। उन्होंने ब्रह्म का मानवीकरण किया है :

अनेजदकं मनसो जवीयो, नैनद्देवा आयुवन पूर्वमर्षन।
तद्धावतो न्यानत्येति निष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥४॥
तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्धन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तद् सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥५॥

यहाँ ब्रह्म और मानव का समन्वय किया गया है। वह सिद्ध भी है और शुद्ध भी है परन्तु रोग शोक को मिटाने वाला, दूध पूत देने वाला, महादानी भी है।

'चण्डी स्तुति' उपभाग के अन्तर्गत दुर्गा के शस्त्रधारी रूप की भी स्तुति की गई है—

कारण करीली गरब गहोली जोत जतीली तुंदभते।
असटाइध दमकण ससत्र झमकण दामन दमकण आदि बिते।
डुकडुकी दमके वाघ वबंके भुजा फरंके सुधगते।
जै त्रै होसी महखासुर मरदनि आदि जुनादि अवाद मते।२२८॥ अ० स्तुति।

३. निर्गुण के लिए प्रयुक्त निर्गुण सम्बोधन

निर्गुण के विषय में चर्चा करने से पहले निर्गुण के स्वरूप को समझ लेना लाभदायक होगा। ईशावास्योपनिषद् में ब्रह्म के निर्गुण स्वरूप की चर्चा करते हुए कहा गया है—

अर्थात् परमेश्वर अचल, एक मन से भी गतियुक्त, सबके आदि ज्ञान स्वरूप हैं। परमेश्वर को इन्द्रादि देवता भी नहीं पा सके। वे दूसरे दौड़ने वालों का स्थिर

रहते हुए ही अतिक्रमण कर जाते हैं। उनके होने पर ही, उन्हीं की सत्ता शक्ति से वायु आदि देवता जल वर्षादि क्रिया सम्पादन करने में समर्थ होते हैं। भाव वे चलते भी हैं और नहीं भी चलते, वे दूर से भी दूर हैं और अत्यन्त समीप से भी समीप हैं। वे इस समस्त जगत के भीतर परिपूर्ण हैं, वे इस समस्त जगत के बाहर भी हैं।

माण्डूक्योपनिषद् में ब्रह्म के निर्गुण स्वरूप को इस प्रकार कहा गया है—'नान्तः प्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञं। अदृष्टव्यवहार्यंग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्म्यप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा सविज्ञेयः" ।।७।। अर्थात जो न भीतर की ओर प्रज्ञावाला है, न बाहर की ओर प्रज्ञावाला है, न दोनों ओर प्रज्ञावाला है, न प्रज्ञानघन है, न जानने वाला है, न नहीं जानने वाला है। जो देखा नहीं गया है, जो व्यवहार में नहीं लाया जा सकता, जो पकड़ने में नहीं आ सकता, जिसका कोई लक्षण (चिह्न) नहीं है, जो चिन्तन करने में नहीं आता, जो बतलाने में नहीं आ सकता, एकमात्र आत्म सत्ता की प्रतीति ही जिसका सार है, जिसमें प्रपंच का सर्वथा अभाव है, ऐसा सर्वथा शान्त, शिव अद्वितीय तत्त्व परब्रह्म का चौथा पांव है—वह परमात्मा है, वह जानने योग्य है ।।७।।"

एक अन्य स्थान पर (प्रश्नोपनिषद् में) कहा गया है—"एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोंकार।" अर्थात् हे सत्यकाम, जो ओंकार है, निश्चय ही वह परब्रह्म और अपर ब्रह्म भी है।[3]

गुरु गोविन्दसिंह जी ने इस निर्गुण ब्रह्म की स्तुति, अकाल उसतति के प्रारंभ में, उसे प्रणव व ओंकार कह कर ही की है—

'प्रणवो, आदि, एकंकारा ।।१।।

वह आदि पुरुष, अविगत, अविनासी है—आदि पुरुष अविगत अविनाशी ।।१।। उसका कोई वर्ण, चिन्ह, जाति, पाँति नहीं है। न उसका कोई शत्रु है न कोई मित्र, न उसका कोई तात है न भाई। वह सबके समीप भी है और सबसे दूर भी है। जल थल नभ सब जगह उसका प्रसार है—

वरण चिन्ह जिह जात न पाता।
सत्र मित्र जिह तात न भ्राता।।
सब ते दूरि सभन ते नेरा।
जल थल मही अल जाहि बसेरा ।।४।। अ० स्तुति।।

उपनिषदों में कहा गया है कि उस निर्गुण का पता इन्द्रादि देवता भी नहीं पा सके। गुरुजी भी कहते हैं कि ब्रह्मा और विष्णु भी उस निर्गुण को खोजते हुए असफल रह गये—

ब्रह्मा बिसन अन्तु न पायो।
नेत नेत मुख चार बतायो ॥५॥ अ० स्तुति ।।

गुरु गोबिन्द सिंह जी इस निर्गुण को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि उसकी रूपरेखा आदि कुछ नहीं जानी जा सकती। उसका निवास कहां है, इसका भी पता नहीं लग सकता। वह किस भेष में घूमता है यह भी अज्ञात है। वह परब्रह्म है, स्वयंप्रकाशी है, परम प्रज्ञा है, अछेद, व अक्षय आदि, अद्वैत, अविनाशी है। उसका जात पात रूप रंग कुछ भी तो नहीं है—

नहीं जात जाई कछू रूप रेखं ।
कहां वास ताको फिरै कउन भेखं।
कहा नाम ताको कहा कै कहावै ।
कहा कै बखानो कहै मैं न आवै ॥६३॥ अ० स्तुति ।।

परे अं परा परम प्रज्ञा प्रकासी।
अछेदं अक्षय अवै अविनासी।
न जातं न पातं न रूपं न रंगे।
नमो आद अभंगे नमो आद अभंगे ॥६५॥ अ० स्तुति

वह निर्गुण स्वरूप अकथनीय, अनिवर्चनीय, अव्यक्त, अमूर्त, अक्षय स्वरूप वाला है—

निरुक्तं प्रभा आदि अनुक्तं प्रतापे।
अजुक्तं अद्वै आदि अविक्ते अथापे।
विभुगतं अद्वै आदि अच्छय सरूपे ॥१०३॥ अ० स्तुति

उपनिषदों में निर्गुण को ज्ञान स्वरूप कहा गया है। गुरु गोविन्द सिंह जी भी कहते हैं कि मन तो कामना के चक्कर में पड़कर अनेकों नाच नाचता है, भला ज्ञान के विना ब्रह्म लोक की प्राप्ति कैसे हो सकती है—

कामना अधीन परिओ नाचत ईनाचन सों।
ज्ञान के विहीन कैसे ब्रह्मलोक पावई ॥८२॥ अ० स्तुति

४. निर्गुण के लिए सगुण सम्बोधन

गुरु गोबिन्दसिंह जी ब्रह्म के निर्गुण स्वरूप को ही स्वीकारते हैं और अत्यन्त तन्मय होकर उन्होंने निर्गुण का ध्यान भी किया है। अपने साहित्य में स्थान-स्थान पर वे निर्गुण के लिए सगुण सम्बोधनों का भी प्रयोग करते रहे हैं। इसका भी एक कारण रहा है। गुरु जी की सारी जिन्दगी कर्मक्षेत्र और विशेषकर युद्धक्षेत्र में व्यतीत

हुई। ऐसे में ब्रह्म का निर्गुण स्वरूप उनकी आत्मा को तो सन्तुष्टि प्रदान कर सकता था परन्तु उनके कर्म को प्रेरणा नहीं दे सकता था। अतः गुरु जी ने समय व परिस्थितियों के अनुसार निर्गुण के लिए सगुण सम्बोधनों का प्रयोग किया है। निर्गुण स्वरूप गुरु जी का चिंतन व उनका दर्शन है और उसका सगुण सम्बोधन उनका यथार्थ व कर्म है। सगुण स्वरूप की चर्चा करते हुए एक जगह कहा गया है—

शान्ताकारं भुजगशयनं पद्मनाभं सुरेशं ।
विश्वाधारं गगनसदृशं मेघवर्णं शुभांगम् ।
लक्ष्मीकान्तं कमलनयनं योगिभिर्ध्यान गम्मयं ।
वन्दे विष्णुं भवभयहरं सर्वलोकैकथानाथम् ॥

अर्थात् जिसकी आकृति अतिशय शान्त है, जो शेष नाग की शैया पर शयन किये हुए हैं, जिसकी नाभि कमल है, जो देवताओं का भी ईश्वर और सम्पूर्ण जगत् का आधार है, जो आकाश के सदृश सर्वत्र व्याप्त है, नील मेघ के समान जिसका वर्ण है, अतिशय सुन्दर जिसके सम्पूर्ण अंग हैं। जो योगियों द्वारा ध्यान करके प्राप्त किया जाता है, जो सम्पूर्ण लोकों का स्वामी है, जो जन्ममरणरूप भय का नाश करने वाला है, ऐसे लक्ष्मीपति, कमल नेत्र विष्णु भगवान को मैं प्रणाम करता हूं। गीता में सगुण निर्गुण भक्त के बारे में अर्जुन के प्रश्न पर उत्तर देते हुए भगवान कृष्ण कहते हैं— "वह सगुण भक्त मुझे प्रिय है, अद्वैत भक्त भी मेरा ही है।"

गुरु गोबिन्द सिंह जी भी ब्रह्म को निर्गुण के साथ-साथ सगुण कहकर सम्बोधित करते हैं :

कहूं त्रिगुण अतीत कहुं सुरगुन समेत हों ॥ १२ ॥ अ० स्तुति ॥

कहीं वह जटाधारी है, कहीं ब्रह्मचारी है, कहीं योगी है, कहीं साधक है, कहीं क्षत्रिय शस्त्रधारी है। ये सभी स्वरूप उस सगुण के ही तो हैं—

कहूं जटाधारी कहूं कण्ठी धरे ब्रह्मचारी,
कहीं जोग साधे कहीं साधना करत हो ।
कहूं कान फारे कहूं डण्डी होइ पधारे ।
कहूं फूक फूक पावन को पृथ्वी पै धरत हो ।
कतहूं सिपाही हुइकै साधन सिलाहन कौ,
कहूं छत्री हुइकै अरि मारन मरत हो ।
कहूं भूप भार को उतारत हो महाराज,
कहूं भव भूतन की भावना भरत हो ॥ १५॥ अ० स्तुत ॥

एक अन्य स्थान पर गुरु जी उसे वेणुका बजाने वाला, गउओं को चराने वाला, उपालम्भ लेने वाला (कृष्ण के सम्बन्ध में गोपियां यशोदा को उपालंभ देती रहती हैं) और सुन्दर कुमार कहकर सम्बोधित करते हैं —

कहूं वेन के बजैया कहीं धेनु के चरैया ।
कहूं लाखन लवैया, कहूं सुन्दर कुमार हो ॥ १८ ॥ अ० स्तुति ॥

वह सारे विश्व का सर्वदाता है. वह सब कुछ जानने वाला है, दीनबन्धु है, दयावान हैं—

सर्व दाता सर्व ज्ञाता सर्व को प्रतिपाल ।
दीन बन्धु दयाल सुआमी आदि देव अपाल ॥ १९० ॥ अ० स्तुति ॥

और अन्तिम उदाहरण 'अकाल उसतति' से नहीं बल्कि गुरु गोबिन्दसिंह जी की 'प्रभु आराधना' से । सीमा उल्लंघन तो यह है ही लेकिन गुरू जी की सगुण के प्रति भाव तन्मयता का एक ही चित्र उनकी सगुण सरूप के प्रति धारणा को स्पष्ट कर देगा—

प्रभ जू तोकह लाज हमारी ।
नील कंठ नर हरि नारायण नील बसन बनवारी ॥१॥ रहाऊ॥

परम पुरख परमेसर सुआमी, पावन पउन अहारी ।
माधव महा जोति मधु मरदन मान मुकंद मुरारी ॥१॥

निरविकार निरजुर निद्रा बिनु, निरविख नरक जिवारी ।
क्रिपासिंध काल त्रैदरसी कुकृत प्रनासनकारी ॥२॥

धनुर्पाणि धृतमान जटाधर अनिविकार असिधारी,
हौ मति मंद चरण सरनागति, कर गेहू लेहि उवारी ॥३॥

इससे स्पष्ट हो जाता हैं कि अकाल उसतति का वाह्य आवरण निर्गुण के अत्यन्त कठोर इस्पात से ढका हुआ है परन्तु बीच-बीच में कई बार सगुण की ज्वाला इस्पात को तपाकर भी लाल कर देती है।

५. अकाल उसतति में ब्रह्म के कर्म नाम

ब्रह्म को शक्ति भी कहा गया है जो कर्म ब्रह्म या शक्ति करती है, वही नाम उसे दे दिये जाते हैं और जो जो कर्म वह शक्ति नहीं करती वह नाम भी ब्रह्म को 'न' वाचक अर्थ लगाकर दे दिये जाते हैं। यानि प्रथम प्रकार के नाम 'पोजीटिव' या सकर्मक और दूसरी प्रकार के नाम 'नैगेटिव' या 'अकर्मक।' 'अकाल उसतति' में प्रयुक्त ब्रह्म के नामों का भी इसी ढंग से अध्ययन किया गया है। परन्तु मैंने इसको सकर्मक या अकर्मक के खानों में विभक्त नहीं किया, क्योंकि एक तो अनेक विद्वान् इस 'नेगेटिव' व 'पोजिटिव' वाली क्लासीफिकेशन को स्वीकार नहीं करते दूसरे ब्रह्म की शक्ति को अकर्मक संज्ञा देकर सम्बोधित करना, 'अकाल उसतति' की भावना के भी

विपरीत होगा। साथ ही इसमें 'चण्डी स्तुति' के अन्तर्गत आने वाले पदों के चंडी सम्बोधनों को भी नहीं रखा गया। क्योंकि चण्डी के सभी नाम व सम्बोधन एक विशेष देवी के प्रति हैं न कि उस अकाल पुरुष के प्रति, दूसरे वे नाम उद्देश्यपरक हैं और उनकी अनन्त ब्रह्म के सम्बोधनों में मिलावट रस के मार्ग को अवरुद्ध कर सकती थी। यह नाम संग्रह गणित की दृष्टि से शायद पूरा न उतरे परन्तु 'अकाल उसतति' की भावना को वहन करने में पूर्ण रूपेण समर्थ है, ऐसा अनुमान किया जा सकता है।

अकाल पुरुख	अव्यक्त	अलेख	अभेख
सर्वलोह	अदोख	अद्वैत	अपाल
सर्वकाल	अछेद	अभेद	अजंत्र
प्रणव	अमंत्र	सुतेज	अतंत्र
एकंकार	अजात	अपात	अमृत
आदि पुरुष	अमान	अरोग	अलोक
अविगत	अकर्म	अजय	अभय
अविनाशी	अभंड	अडंड	प्रचंड
अंतर्यामी	अतेव	अभेद	अजेव
अक्षय (अंछै)	सदा सिद्धिदा	परे ब्रं (परब्रह्म)	परा
अनमेष	परम	प्रज्ञा प्रकासी	अभंगे
अविकार	अगाधे	असाधे	अदण्डे
अनहद रूप	अभण्डे	प्रमाधे	अजोहं
अनकाल	अपालं	निरुक्तं	अनुक्तं
अवधूत	अनुग्तं	अविग्ते	अमुग्तं
अनभर्य	पवित्रं	पुनीतं	अताकं
अछेत्र	एकतन्त्रे	पूर्ण प्रजा	समस्ते
अकलंक	अनतुट तेज	अव्यक्त तेज	अनभउ प्रकास
निरंकार	सदीव	सनात	अनभूत कर्म
अनोछिज्ज	अखय	अभंग	अलख रूप
तेज	अव्याध	अनाद	अनधूत
उदार	अछूत	अनभंज प्रभा	अगंज
अनभिज्ज	अभंज	अभूत	अदेव
अनखंड	अभेव	अनाथ ना	अदोख
अनखेद	अदाग	असेख	विसेख
अमित्त	अप्रमान	अख्याल	पुरान
करीम	ख्याल	प्रिय	अराग
अरंग	वेअन्त	अनन्त	अनादि
निरधार	आदिनाथ	अविखाद	अवेह

अजीत	अनभीत	सर्व गज्जन	सर्व भज्जन
सर्व करता	सर्व हरता	सर्व दयाल	सर्व लाइक
सर्व घातक	सर्व ज्ञाता	सर्व दाता	प्रतिपाल
दीन बन्धु	दयाल	स्वामी	प्रवीन
श्रीपति	श्री भगवान	दुष्ट गंजन	शत्रु भंजन
अथों दंडन	सृष्टि करता	गोविन्द	मुकन्द
काल के काल	सर्व खंडन	सर्व दंडन	निज भाम
सर्व भुगता	सर्व जुगता	विश्व भरता	अपार
अन्न दाता	ज्ञान दाता।		

'अकाल उसतति' में गुरु जी ने एक अकाल-पुरुष को अपना इष्ट घोषित किया है।

गुरु जी ने अकाल पुरुष को समस्त ब्रह्माण्ड में विद्यमान स्वीकार किया है। उसके निर्गुण और सगुण दोनों रूपों को प्रतिपादित किया है। वह सर्वव्यापक है। वह सन्तों को उभारने वाला और दुर्जनों को नष्ट करने वाला है। वह समस्त विश्व का कल्याण करने वाला है।

अकाल उसतति में गुरु जी की अभिव्यञ्जना शैली भी विलक्षण है। उन्होंने अपने समय के सभी धर्मों और सभी प्रमुख भाषाओं के ब्रह्म-परक शब्दों को लेकर अकाल पुरुष की प्रशंसा को लिपिबद्ध किया है।[४]

निष्कर्ष रूप में 'अकाल उसतति' एक प्रशस्ति है जिसमें व्यक्त और अव्यक्त प्रभु के गुणों का बखान कर इन सबका 'अकाल' रूप से अन्तर्भाव कर दिया गया है। अकाल का प्रतिष्ठापन ही इस वाणी का चरम लक्ष्य है।'[५]

३. विचित्र नाटक

दशम ग्रन्थ में गुरु जी की आत्म-कथा का खण्ड, विष्णु के चौबीस अवतार, ब्रह्मा के सात अवतार व रुद्र के दो अवतार—इन सभी को मिलाकर विचित्र नाटक के नाम से जाना गया है। इसका सुस्पष्ट कारण भी है। इन सभी रचनाओं के प्रकरणान्त में : 'इति श्री वचित्र नाटक ग्रन्थे···धिआई समाप्त सुभ मस्त,' लिखा हुआ है। कुछेक विद्वान् आत्मकथा भाग को विचित्र नाटक के अन्तर्गत रखने के पक्ष में नहीं हैं। वे निम्न पंक्ति के आधार पर इसका नाम 'अपनी कथा' रखना अधिक सार्थक मानते हैं—

'अब मैं अपनी कथा बखानौ।
तप साधन जिहि बिधि मुहि आनौ।।

परन्तु अब देवनागरी व गुरुमुखी आदि लिपियों में आत्मकथा खण्ड के लिए भी विचित्र नाटक नाम ही प्रचलित हो गया है आत्मकथा व अवतार कथाएं जिस रचना का वर्ण्य विषय हों उसके लिए विचित्र नाटक नाम है भी सार्थक। अनादि काल से चला आ रहा यह विश्व कितना विचित्र है। मनुष्य जन्मता है, मरता है, कभी यहां प्रलय आती है कभी तूफान आते हैं और फिर नवनिर्माण होता है। जहां जल से प्यासा मानव प्राण त्यागता है वहीं लोग जल की अधिकता से उसमें डूब-डूब कर मरते हैं। कहीं अभाव है कहीं आधिक्य। एक बार व्यतीत होकर कभी न आने वाला काल। और काल के चक्र में पिसता मानव जीवन। बालपन, यौवन और वृद्धावस्था। सभी कुछ विचित्र ही तो है और गुरु जी का अपना जीवन क्या कम विचित्र है? पटना में जन्म और शैशव की किलकारियां, रणस्थल बना पंचनद। सारा जीवन संघर्षमय, संघर्ष जिसने पिता और पुत्रों को लील लिया और जीवन का अन्त हुआ सुदूर दक्षिण में। इसलिए यदि आत्मखण्ड को भी विचित्र नाम से पुकारा जाये तो इसमें अतिशयोक्ति क्या है?

विचित्र नाटक के आत्मकथा अंश में कुल १४ अध्याय व ३७० छन्द है। प्रथम अध्याय के १०१ छन्द मात्र स्तुतिपरक हैं। इनमें इष्ट देव के अनेक रूपों का वर्णन हुआ है, परन्तु इसमें बहुलता इष्ट के वीर रूपों की ही है—

सुभं जीभ ज्वालं ॥ सु दाढा करालं ॥
बजी नवं सरवं ॥ उठे नाद वरबं ॥३३॥
करं वाम चाप्पं कृपाणं करालं ॥
महातेज तेजं विराजे बिसालं ॥
महादाढ़ दाढै सु सोहं अपारं ॥
जिवै चर्वीयं जीव जग्यं हजारं ॥१८॥

काल का भयंकर रूप गुरु गोविन्द सिंह जी को अत्यन्त प्रिय रहा है। आत्मकथा में काल के भयंकर, रौद्र, वीभत्स रूप का वर्णन गुरु जी ने जिस तन्मयता के साथ किया है वह अद्वितीय है। मधु कैटभ जैसे बलवान राक्षसों का काल ने दमन कर दिया। शुंभ निशुंभ और रक्तबीज जैसे दानवों के उसने पुरजे-पुरजे कर डाले। पृथु और मानधाता जैसे बड़े बड़े महीप भी, जिनके अजेय रथ का चक्र सातों द्वीप में घूमता था, काल के खड़ग से बच नहीं सके।

'बली पृथ्वीअं मानधाता महीपं ॥
जिनै रत्थ चक्रं किए सात दीपं ॥
भुजं भीम भरथं जगं जीत डडयं ॥
तिनै अन्त के अन्त को काल खगडयं ॥६५॥

'विचित्र नाटक' के शेष तेरह अध्यायों में गुरु जी के जीवन में हुए असंख्य युद्धों का वर्णन है। योद्धा द्वारा स्वयं अपने द्वारा किए युद्धों के वर्णन उस काल के संदर्भ

को देखते हुए साहित्य की अति मूल्यवान सम्पत्ति समझी जा सकती है। दूसरे युद्धों में स्वयं भागीदार होने के कारण युद्धों का जो सजीव वर्णन आत्मकथा में हुआ है उतना अन्यत्र दुर्लभ है। वंश वर्णन, पूर्व जन्म व इस जन्म की घटनाओं के बाद भगाणी, नादोन खानजादा तथा हुसैनी युद्ध का सजीव, यथार्थ तथा ओजस्वी वर्णन किया गया है। पाऊंटा साहिब में फतेहशाह से हुए युद्ध में महन्त कृपाल तथा नन्द चन्द के घात प्रतिघात कितने सजीव बन पड़े हैं, यह देखते ही बनता है—

क्रिपाल कोपीय कुतको संभारी। हठी खान हयात के सीस झारी॥
उठी छिच्छि इच्छ कढ़ा मेझ जोरं। मनो माखन मटकी कान्ह फोरं॥
तहां नन्द चन्द कीयो कोपु भारो। लगाई बरछी क्रिपाणं सभारो॥
तुटी तेग त्रिक्खी कढ़ जमदंड। हठी राखीयं लज्ज वंसं सनंढं॥
तहां मात लेयं क्रिपाले क्रुद्धं। छकियो छोम छत्री मों जुद्ध सुद्ध॥
सहै देत आपं महावीर वाणं। करो खानवानीन खाली पलाणं॥
हढ्यिां साहब चन्द खेतं खजियाणं। हने खान खूनी खुरासन मानं॥
तहा वीर बंके भली भांति मारे। बचे प्राण लेके सिपाही सिधारे॥
(८।१०)

योद्धाओं के भाव, अनुभाव क्रोध, शस्त्र संचालन, युद्ध कुशलता, रक्त प्रवाह आदि का सजीव वर्णन नेत्रों के सामने आ जाता है।

यह रचना वीर रस प्रधान है। सम्पूर्ण युद्ध कथाओं में वीररस का पूर्ण संचार है। भाषा हृदयग्राहिणी व भावों की अनुगामिनी है तथा हृदय से सीधा सम्बन्ध स्थापित करने में पूर्णतया समर्थ है।

गुरु गोविन्द सिंह द्वारा रचित चरित काव्य शैली में यह एक ऐसा वीर काव्य है जिसमें किसी देवी देवता या अन्य वीर पुरुष के चरित्र में अनेक अतिमानवीय, अलौकिक अथवा चमत्कारपूर्ण घटनाओं का समावेश करके उसकी वीरता, शौर्य, दृढ़ता, साहस, पौरुष आदि गुणों की अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा नहीं की गई, वरन् यह गुरु जी के अपने जीवन से संबन्धित है और उसमें आत्मकथा की सत्यता, यथार्थता एवं सहजता है। तटस्थ आत्म निरीक्षण एवं प्रभावपूर्ण आत्माभिव्यक्ति की दृष्टि से यह एक आदर्श, उत्कृष्ट एवं विशिष्ट रचना है। यह अत्यन्त विश्वासपूर्ण, दृढ़ स्वच्छ एवं आकर्षक शैली में रचित मनोहर आत्मकथा है। मध्यकालीन हिन्दी साहित्य में इस प्रकार की साहसिक एवं ओजस्वी पद्यात्मक आत्मकथा नहीं मिलती। परन्तु इस रचना का उद्देश्य केवल मात्र आत्माभिव्यक्ति अथवा आत्म प्रकाशन नहीं है, आत्म विज्ञापन तो बिल्कुल नहीं। शहीद के पुत्र और शहीदों के पिता शिरोमणि योद्धा गुरु गोविन्द-सिंह ने इस काव्य ग्रन्थ की रचना भी असहाय एवं निराश भारतीय जनता में जातीय स्वाभिमान, राष्ट्र प्रेम एवं धर्म रक्षा के उच्च भावों को जाग्रत करने एव उत्तेजित करने के महान् उद्देश्य से ही की है।[६]

४. चण्डी चरित्र (प्रथम) उक्ति विलास

चण्डी सम्बन्धी गुरु गोविन्दसिंह की तीन प्रबन्ध रचनाएं प्राप्य हैं। दो हिन्दी में तथा एक "चण्डी दी वार," के नाम से पंजाबी में। परन्तु पंजाबी की रचना आकार में हिन्दी की रचनाओं से कहीं पीछे है। हिन्दी में भी चण्डी सम्बन्धी प्राप्त रचनाओं को दो अलग प्रबन्धों के रूप में जाना जाता है। चण्डी चरित्र (प्रथम) तथा चण्डी चरित्र (द्वितीय)। चण्डी चरित्र प्रथम २३३ छन्दों की पद्यबद्ध रचना है। सामान्य प्रकाशनों में इसे सात अध्यायों में विभाजित किया जाता है। एक अध्याय अपूर्ण है। परन्तु कई प्रकाशनों में अध्याय विभाजन अन्यथा भी है। डा० जयभगवान गोयल ने अपने "गुरु गोविन्दसिंह का वीर काव्य" ग्रन्थ में इस प्रबन्ध को केवल तीन अध्यायों मधु कैटभ वध, महिषासुर वध, धूम्रनयन वध में विभाजित किया है। प्रथम चण्डी चरित्र में मारकण्डेय पुराण में वर्णित देवी माहात्म्य का स्वतन्त्र अनुवाद भी है जिसे अनुवादक ने स्पष्ट रूप से स्वीकार भी किया है।

ग्रन्थ के आरम्भ में १२ छन्दों में ब्रह्म व चण्डी की स्तुति मधु व कैटभ आदि राक्षसों का विष्णु द्वारा वध अंकित है। ग्रन्थ रचना में भगवत्कृपा का उल्लेख करते हुए गुरु जी लिखते हैं—

> कृपा सिन्धु तुमरी कृपा, जो कछु मो परि होई।
> रचो चन्डका की कथा, वाणी शुभ सम होई॥

द्वितीय अध्याय के ४० छन्दों में महिषासुर से युद्ध व उसके वध का वर्णन है। तृतीय अध्याय में ४८ छन्द हैं। इनमें शुंभ-निशुंभ दैत्यों का प्रगति करना व चण्डी का उदय होना, राक्षसों से भयंकर युद्ध होना, और अन्त में भाग जाना वर्णित है। मार्कण्डेय पुराण के ८५ वें अध्याय में भी काली उत्पत्ति का प्रकरण आता है। गुरुजी ने भी उसी रूप में उसे अपने उक्ति विलास में वर्णित किया है। गुरुजी काली उत्पत्ति का वर्णन करते हुए लिखते हैं :

> भाल को फेर के काली भई॥
> लखि तांछवि को कवि को मन भीनो।
> दैंत समूहि विलसनि को,
> जमराज ते मृत मनों भव लीनो॥

काली के युद्ध से घबराकर शुंभ निशुंभ रण-स्थल से भाग गये। देवी ने सब दैत्यों का नाश कर दिया। केवल एक दैत्य को छोड़ दिया। वह दैत्य शुंभ-निशुंभ को युद्ध की सारी सूचना देने चला गया। दैत्य राज शुंभ ने देवी से लड़ने के लिए चण्ड मुण्ड नाम के राक्षस भेजे। चतुर्थ अध्याय में देवी का इन्हीं दैत्यों से युद्ध वर्णित है। भयंकर युद्धो-

परान्त दोनों दैत्य देवी के हाथों मारे गये।

मुंड महान मद्धि हनिउ फिर कै बरचन्ड तबै इह कीनौ।
मार विदार दई सब सैनसु चन्डका चन्ड सो आहक कीनौ ॥
ले बरछी कर में अरि को सिर कै वर मांहि जुदा कर दीनौ।
जैसे महेस त्रिसूल गणेस को ड रुंकीड जन मुंड वहीनौ ॥११६॥

चण्ड मुण्ड के मारे जाने के बाद शुंभ और निशुंभ ने देवी को पराजित करने के लिए रक्तवीज के नेतृत्व में विशाल वाहिनी भेजी। पंचम अध्याय में इसी युद्ध का वर्णन है। रक्तवीज को वरदान मिला हुआ है कि जहां उसके रक्त की एक बूंद भी गिरेगी वहीं अनेकों रक्तवीज पैदा हो जाएंगे। जब दुर्गा ने रक्तवीज का वध असम्भव देखा तो उसने अपने मस्तक से काली को जन्म दिया। तब चण्डी ने रक्तवीज का वध किया और काली ने उसका रक्त पीकर वरदान को निष्फल किया।

चंडी काली दुहू मिलि कीनी इहै विचार।
हउ हनिहौं तूं सउन पीअरि दलि हारिमारि ॥१६७॥

रक्तवीज के वध और दैत्य वाहिनी की पराजय की वात सुनकर शुंभ-निशुंभ अति क्रोधित हुए। दोनों स्वयं नेता सहित चण्डी से युद्ध करने को उद्धत हुए। इतना भयंकर युद्ध चण्डी ने कभी नहीं किया था। विष्णु इत्यादि देवता भी घबरा गए। उन्होंने चण्डी की सहायता को अपनी सेना भेजी। देवताओं की सभी शक्तियां चण्डी में लीन हो गईं। कई दिनों तक युद्ध चलता रहा। अन्त में निशुंभ भी देवी के हाथों मारा गया। चण्डी ने क्रोधित होकर तलवार से उसका सिर काट लिया—

चन्ड प्रचन्ड तवे बलधार संभार लई करवार करी करि।
कोप दई निशुंभ कै सीस वही इह भांत रही तखा तर।
कउन सराह करै कहिता दिन सो बिब होइ परै धरती पर।
मानहु सार की तार लै हाथ चलाई है सावत तो सबुगनी ॥१२२॥

सप्तम् अध्याय में चण्डी और शुंभ के युद्ध का वर्णन है। जब शुंभ को अपने भाई निशुंभ के मारे जाने का समाचार प्राप्त हुआ तो वह अपनी समस्त सेना लेकर युद्ध भूमि में आ डटा। अपने भाई का मृत शव देखकर वह क्रोधोन्मत हो उठा। युद्ध के भयंकर घात प्रतिघातों में चंडी ने उसके दो टुकड़े करके उसे पृथ्वी पर फेंक दिया और विजय का शंख बजा दिया।

सुंभ मारिकै चन्डका उठी सु संख बजाई।
तक धुनि फंटा कीकरी महामोहि मन पाई ॥२२२॥

रचना का अन्तिम अध्याय अत्यन्त महत्वपूर्ण है। दैत्यों के विनाश से शान्ति स्थापित हो गई। देवताओं ने चण्डी की स्तुति की। देवताओं का उद्देश्य तो पूर्ण हो गया। परन्तु कवि ने यह रचना किस उद्देश्य से की? क्या केवल कौतुक वश?

कउतक हेत करि कवि ने,
सतसया की कथा इह पूरी भई है ॥

परन्तु कौतुकता किसी दरवारी कवि या अन्य कवि का उद्देश्य हो सकता है। गुरु गोविन्दसिंह जी का उद्देश्य कौतुकता नहीं हो सकता। चण्डी चरित्र का रचयिता मूलत: एक महान् विद्रोही है जो अपने युग के आसुरी शासन को नष्ट करने के लिए सन्नद्धता प्राप्त कर रहा है। अर्थात् वह धर्मयुद्ध का आयोजन कर रहा है। उसका युद्ध केवल युद्ध ही नहीं है—धर्म युद्ध है। इस युद्ध की तैयारी के लिए उसे सैनिक चाहिएं, स्वयंसेवक चाहिएं, धन चाहिए, अस्त्र-शस्त्र चाहिए, हाथी-घोड़े चाहिएं, रसद सामग्री, तम्बू-कनात आदि अनेकानेक वस्तुएं चाहिए। किन्तु ये तो वाह्य उपकरण हैं। क्या सैनिकों, अस्त्रों, हाथी-घोड़ों, धन और रसद-पानी से युद्ध जीते जाते हैं। चंडी चरित्र का रचयिता जानता था कि इन वाह्य उपकरणों की उपस्थिति में भी युद्ध हारे जा सकते हैं और इन उपकरणों के अभाव में भी युद्ध जीते जा सकते हैं। और वह वस्तु जो संघर्ष में विजय प्राप्त करती है, इन वाह्य उपकरणों में न होकर हृदय में होती है। चण्डी चरित्र में यह वही चाहता है। कवि का अपना निमित्त भी है।[७] वह निमित्त क्या है? कवि स्वयं उसका वर्णन करता है—

देहु सिवा वर मोहि इहै सुभ करमन तें कवहूं न टरौं।
न डरौं अरिसौं जब जाइ लरौं निसचै कर आपुनि जीत करौं ॥
अरु सिख हौं आपुने ही मन को इह लालच हउ गुण तउ उचरौं।
जव आव की अउध निधान वनै अति ही रन में तव जूझ मरौं ॥२३॥

५. चण्डी चरित्र (द्वितीय)

चण्डी चरित्र (द्वितीय) में २६२ छन्द व आठ अध्याय हैं। कथानक की दृष्टि से इसका उक्ति विलास से बहुत कम भेद है। उक्ति विलास का प्रारम्भ छ: छन्दों में ब्रह्म की स्तुति, आगे के छ: छन्दों में मधु व कैटभ राक्षसों की उत्पत्ति व विष्णु द्वारा उनका संहार, से होता है। परन्तु चण्डी चरित्र (द्वितीय) का सीधा प्रारम्भ महिषासुर प्रकरण से होता है। इस रचना के आठों अध्यायों में थोड़े-बहुत हेर-फेर के साथ उक्ति विलास की कथा को ही दोहराया गया है। चण्डी चरित्र प्रथम से द्वितीय की भिन्नता काव्य शैली को लेकर है। प्रथम में सवैया प्रमुख छन्द है और कवित्त दोहा, चौपाई का ही प्रयोग हुआ है। परन्तु द्वितीय में युद्ध-द्रुतता का साथ छन्द परिवर्तन द्रुतता ने दिया है। सम्पूर्ण रचना में १७ भिन्न-भिन्न छन्दों का प्रयोग हुआ है। जिनके नाम हैं—नाराज, रसावल, दोहा, भुजंगप्रयात, तोटक, चौपाई, मधुभार रुआमल, कुलक, सोरठा, विजै, मनोहर, संगीत, भुजंगप्रयात, वेलीविद्रुम, वृद्धनाराज, संगीत, मधुमार और संगीत नाराज। ५७ वार छन्द परिवर्तन किया है। छन्दों में सव

से अधिक संख्या रसावल की है। उसकी संख्या ७२ है। छन्द विविधता की बात बाकी १६ छन्दों की न्यूनाधिक संख्या से स्पष्ट हो जाएगी—

भुजंगप्रयात ७२, नाराज १९, दोहरा १४, तोटक ४, चौपाई २०, मधुभार१२, रुआमल १५, कुलक ४, सोरठा १, बिर्न २, मनोहर १, संगीत भुजंगप्रयात ७, वेली-विद्रुम १२, वृद्ध नाराज १, संगीत मधुभार ७, संगीत नाराज १।

गुरु जी की चण्डी चरित्र रचनाओं को लेकर साहित्यिक जगत् में अच्छा खासा वावेला मचा है। सबसे ज्यादा आपत्ति इन रचनाओं के कर्ता को लेकर है। इन रचनाओं में अवतारवाद की कल्पना पर स्वीकृति की मोहर लगाई गई है। अतः कुछ साहित्यिक शूर गुरु गोबिन्दसिंह जी को इन रचनाओं के लेखक पद से च्युत करने के लिए कमर कसे हुए हैं। उनका कहना है कि ये रचनाएं गुरुजी के किसी दरबारी कवि की उपज है। डॉ० रतनसिंह जग्गी इन शूरवीरों की पंक्ति में नये-नये शामिल हुए हैं और गुरु जी को लेखक पद से च्युत करने वालों में अग्रणी हैं। वास्तव में जो लोग इस दृष्टि से सोचते हैं उनकी दृष्टि साहित्यिक कम और साम्प्रदायिक अधिक है। गुरु जी की उपर्युक्त रचनाएं समसामयिक परिस्थितियों की उपज हैं और अवतारवाद की प्रशस्ति न इन रचनाओं का ध्येय है और न गुरु जी का लक्ष्य। वास्तव में इन रचनाओं के सम्बन्ध में विचार करते हुए तत्कालीन परिस्थितियों और गुरु जी के धर्मयुद्ध का स्मरण मात्र कर लेना पर्याप्त होगा। साम्प्रदायिकता का चश्मा उतारकर शुद्ध साहित्यिक दृष्टिकोण से मूल्यांकन करते समय तो अवतारवाद किंचितमात्र भी बाधा उपस्थित नहीं कर सकता।

"वस्तुतः गुरु गोविन्द सिंह की शक्ति-भावना उनकी युग-चेतना, राष्ट्रीय-जागरण, संस्कृति की सचेतनता और उजागर वीर-भावना की परिचायक है और सिक्ख धर्म की आध्यात्मिक चिन्तन धारा के सर्वथा अनुकूल है।[८]

६. ज्ञान प्रबोध

गुरु गोविन्द सिंह जी की ज्ञान प्रबोध रचना को कथानक के आधार पर दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम १२५ छन्द गुरु जी की विशुद्ध भक्ति भावना के परिचायक हैं। इनमें अकाल पुरुष की स्तुति विविध गुणों द्वारा की गई है। भगवान निर्गुण हैं, निराकार हैं, रूप, गुण, वेश आदि की पहुंच से परे हैं। परन्तु गुरु जी ने उसे दुष्टों के दलनकर्त्ता के रूप में भी चित्रित किया है —

> खल बल दल हरणं दुष्ट विदरणं असरणं सरणं अमित गतं।
> चंचल चख चारण मच्छ विडारण पाप प्रहारणं अमित मतं॥
> आजात सुबाहं साहन साहं महिमा महं सरब मई।
> जल थल बन रहिता बन जिन कहिता खलदलि रहिता सुनरिसही॥

द्वितीय अंश के प्रारम्भिक भाग में दार्शनिक चिन्तन ही अधिक हुआ है, ब्रह्म क्या है?

डोबियो न डुबे सोखियो न जाई ।। कटियो न कटे न वाटियो वटाई ।।
छिज्जे न नेक सत सस्त्र पात ।। नाहिं सत्र मित्र नहीं जात पात ।।२६।।

ब्रह्म की इस परिभाषा की गीता से कितनी समता है ।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ।२३। भगवद्गीता

इसके बाद चार वर्गों (धर्मों) का वर्णन किया गया है । राजधर्म, दानधर्म, भोगधर्म और मोक्षधर्म । कथा का प्रारम्भ युधिष्ठिर की कथा से होता है । युधिष्ठिर ने जम्बु द्वीप पर पांच सौ वर्ष राज्य किया । तदुपरान्त राज्य सूत्र क्रम से परीक्षित, जनमेजय (असमेघ, असमेधान, अजैसिंह) जम से होता हुआ जम के पुत्र मुनी के पास पहुंचा । मुनी बड़ा पराक्रमी राजा था । उसने एक विशाल यज्ञ का आयोजन किया । इसके बाद कथा सूत्र का कोई सम्बन्ध नहीं है । इससे ऐसा आभास होता है कि यह रचना अधूरी है । इसका अन्तिम भाग किसी भांति नष्ट हो गया होगा ।

७. चौवीस अवतार

गुरु गोविन्द सिंह जी द्वारा रचित चौवीस अवतार गुरु जी की सर्वाधिक विवादास्पद रचना है । इसके कर्तृत्व को लेकर जितना हड़कम्प मचा है उसका भी अपना इतिहास है । उन सभी की चर्चा यथास्थान की जाएगी । इस रचना में विष्णु के चौवीस अवतारों ब्रह्मा के सात व रुद्र के दो अवतारों का विभिन्न छन्दों में रोचक वर्णन किया गया है । कुछ अवतारों की चर्चा अत्यन्त संक्षेप में व कुछ का विशद वर्णन मिलता है । रामावतार व कृष्णावतार का आयाम इतना बड़ा है कि स्वतंत्र प्रबंध रचना मालूम होती है । विष्णु के चौवीस अवतारों में से भी चौदह प्रमुख व दस को गौण माना गया है । चौवीस अवतारों के नाम इस प्रकार हैं—

१. मत्स्य	२. कच्छप	३. नर	४. नारायण	५. मोहिनी
६. वराह	७. नृसिंह	८. वामन	९. परशुराम	१०. ब्रह्मा
११. रुद्र	१२. जालन्धर	१३. विष्णु	१४. शेषशायी	१५. अर्हन्त देव
१६. मान राजा	१७. धनवन्तरि	१८. सूर्य	१९. चन्द्रमा	२०. राम
२१. कृष्ण	२२. अर्जुन	२३. बुद्ध	२४. कल्कि	

ब्रह्मा के सात अवतारों की नामावली इस प्रकार है—

१. वाल्मीकि	२. कश्यप	३. शुक्र	४. बृहस्पति
५. व्यास	६. षट्ऋषि	७. कालिदास ।	

रुद्र के दो अवतारों के नाम दत्तात्रेय व पारसनाथ हैं । विष्णु के चौवीस अवतारों का वर्णन करने से पूर्व कवि ने ३८ छन्दों में ब्रह्म की स्तुति की है । कवि के अवतारवाद सम्बन्धी दृष्टिकोण को समझने में ये छन्द अति सहायक हैं । उसके बाद

मत्स्य, कच्छप, नर-नारायण और महामोहिनी अवतारों का ३५ विविध छन्दों में वर्णन है। संखासुर राक्षस को मारने के लिए मत्स्य, समुद्र-मंथन में मंदराचल का भार वहन करने के लिए कच्छप व सागर-मन्थन से निकले रत्नों का देव-दैत्यों में वंटवारा करवाने के लिए नर-नारायण और महामोहिनी का अवतार विष्णु ने धारण किया। इन सभी अवतार वर्णनों में प्रायः युद्ध चित्रण की ही प्रमुखता रही है। युद्ध चित्रण यथार्थ के निकट व सजीव वन पड़ा है। दोनों ओर सेनाएं डटी हैं व घोर युद्ध हो रहा है :

लगे ठाम ठामं दमामं दमंके।
खुले खेत मो खग्ग खूनी खिमंगे।
भए क्रूर भातं कमाणं कडक्के।
नचे वीर वैताल भूतं भड़क्के॥

वराह अवतार का वर्णन कुल १४ छन्दों में है। नृसिंह अवतार की कथा पौराणिक कथाओं से थोड़ी भिन्न है। पौराणिक कथाओं में नृसिंह व हिरण्यकश्यपु युद्ध वर्णन नहीं मिलता। वहां तो नृसिंह दैत्य को अपनी जांघों पर रखकर चीर देता है। परन्तु गुरु जी ने ३० पदों में दोनों पक्षों का घोर युद्ध दिखाया है। अन्त में हिरण्यकश्यपु नृसिंह के हाथों मारा जाता है। २७ छन्दों में विष्णु के आठवें वामन अवतार का वर्णन है। वामन रूप में भगवान ने वलि राजा से यज्ञ के अवसर पर अढ़ाई पग भूमि की याचना की और प्रार्थना स्वीकृत हो जाने पर दो पगों में पाताल और आकाश नाप लिया। आधे पग से वलि राजा को पाताल लोक धकेल दिया। ३५ पद्यों में भूलोक से क्षत्रियों का वीज नाश करने वाले परशुराम अवतार का वर्णन है। सात पदों में ब्रह्मावतार का वर्णन किया गया है। रुद्रावतार का वर्णन ८९ पदों में किया गया है। इसमें अधिकांश पद युद्ध-चित्रण को ही समर्पित हैं। रुद्र ने कई-एक दैत्यों का वध करके पृथ्वी के भार को हल्का किया' उन सभी का सजीव वर्णन गुरु जी ने किया है। इसके वाद जालन्धर अवतार और तदुपरान्त केवल पांच छन्दों में विष्णु अवतार का वर्णन किया गया है। जहां-जहां भी गुरु जी ने अवतार वर्णन प्रसंग को सप्रयास संक्षिप्त रखा है। वहां इसका स्पष्ट संकेत भी दिया है। विष्णु अवतार में कवि कहता है—

सकल कथा जड़ छोर सुनाऊं।
विसन प्रवन्ध कहत स्रम पाऊं।
ताते थोरीए कथा प्रकासी।
रोग सोग ते राख अविनासी॥

इसके वाद ७७ पदों में शेषशायी, अरहंतदेव, मनु राजा, धनवन्तरि, सूर्य व चन्द्र अवतार वर्णन है। इन सभी का वर्णन पौराणिक कथाओं के आधार पर ही किया गया है। जव संसार में वैभव वहुत वढ़ गया तो लोग वीमार होने लगे। उन्होंने भगवान से प्रार्थना की तो धनवन्तरि अवतार का जन्म हुआ, जिसने आयुर्वेद का निर्माण किया—

रोगाकुल सब ही भए लोका, उपजा अधिक प्रजा को सोगा।
परम पुरख की करी बढ़ाई, कृपा करि तिन पर हरि राई॥
बिसन चन्द को कहा बुलाई, धर अवतार धनन्तर जाई।
आयुरवेद को करो प्रकासा, रोग प्रजा को करि बहुनासा॥

रामावतार का वर्णन कवि ने अधिक मनोयोग से किया है। इस रचना में कुल ८६४ छन्द हैं। डॉ महीप सिंह ने सपूर्ण रचना का विभाजन रामचरित मानस के आधार पर निम्न ढंग से किया है :

१. बाल काण्ड—सीता स्वयंवर तक...	१५३ वें छन्द तक।
२. अयोध्याकाण्ड—वनवास तक...	३३२ वें छन्द तक।
३. अरण्य काण्ड—सीता हरण तक...	३५५ वें छन्द तक।
४. किष्किधा काण्ड—वालि वध तक...	३६५ वें छन्द तक।
५. सुन्दर काण्ड-हनुमान की खोज, युद्धारम्भ तक.	३९५ वें छन्द तक।
६. लंका काण्ड—सीता मिलन तक....	६५२ वें छन्द तक।
७. उत्तर काण्ड—अन्त तक ...	८६४ वें छन्द तक।

राम कथा का वर्णन प्रायः भारत में प्रचलित राम कथा के अनुसार ही है। सीता वनवास प्रसंग में सीता निर्वासन का वर्णन तो किया है लेकिन उसका कारण नहीं बताया। लव-कुश के सम्बन्ध में कवि ने कहा है कि एक बार समाधिस्थ वाल्मीकि की कुटिया से सीता अपने पुत्र को लेकर स्नान करने गई। बाद में ऋषि की समाधि टूट गई। बालक को वहां न देखकर वे अत्यन्त घबराये व उन्होंने एक नये बालक की रचना कर दी। सीता के धरती में समाने के सम्बन्ध में कवि ने लिखा है कि एक बार सखियों के कहने पर सीता ने रावण का चित्र बना दिया। राम शंकित हो गए तो सीता इस अपमान को न सहती हुई धरती में समा गई। उसके बाद चारों भाइयों ने भी योगाभ्यास द्वारा नश्वर शरीर त्याग दिया।

हिन्दी रामकाव्य परम्परा में गुरु गोविन्द सिंह के रामावतार का अत्यन्त महत्त्व है। रामावतार एक और दृष्टिकोण से भी महत्त्वपूर्ण रचना मानी जाती है। क्योंकि राम-अवतार के राम तुलसी और केशव के राम दोनों से भिन्न हैं। तुलसी के राम मर्यादा पुरुषोत्तम हैं, केशव के राम वैभवशाली राजा हैं। परन्तु गुरु गोविन्द सिंह के राम वीर और योद्धा हैं। जहां दूसरे रामकाव्यों में युद्ध वर्णन को गौण स्थान दिया गया है, वहां रामावतार का सम्पूर्ण वातावरण ही युद्धमय है। सम्पूर्ण रामावतार में ८६४ छन्द हैं और इनमें से ४०० से अधिक छन्दों में केवल युद्ध का ही वर्णन है। करुण, शृंगार तथा अन्य किसी प्रकार के वर्णन में कवि की दृष्टि अधिक नहीं ठहरती। उसकी रुचि युद्ध-चित्रणमें है और जहां कहीं भी उसे यह सुयोग मिलता है वह उसका पूरा लाभ उठाता है।[६]

रामावतार के बाद विष्णु के २१वें अवतार कृष्णावतार का २४९२ छन्दों में वर्णन है। चौबीस अवतारों में आकार-प्रकार दोनों तरह से कृष्णावतार सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रचना है। इस रचना का महत्त्व इस दृष्टि से और बढ़ जाता है कि इससे पहले हिन्दी में कृष्ण-चरित्र को लेकर प्रबन्ध काव्यों की कोई उत्साहवर्धक परम्परा नहीं थी। इस दृष्टि से भी कृष्णावतार अपने क्षेत्र में नि१ट अकेला स्तुति योग्य है। कृष्णावतार के अन्त में कवि ने रचना-काल का भी स्पष्ट उल्लेख कर दिया है।

सत्रह सै पैताल महि सावन सुदि थिति द्वीप ॥
नगर पावटा सुभ करत जमना वहै समीप ॥२४९०॥

डॉ महीपसिंह ने इस विशाल रचना को अध्ययन की सुविधा के लिए निम्न पांच भागों में विभाजित किया है।

१.	बाल लीला	४४० छन्दों तक
२.	रास मण्डल	४४१ से ७५६- छन्दों तक
३.	मथुरा गमन-गोपी विरह	७५७ से १०२८ छन्दों तक
४.	युद्ध प्रबन्ध	१०२९ से १९९२ छन्दों तक
५.	स्फुट घटनाएं	१९९३ से २४९२ छन्दों तक

ग्रन्थ में इन अध्यायों का संकेत अवश्य मिल जाएगा ऐसा अवश्यक नहीं है परंतु कहीं बीच में संकेत मिल जाए तो बात दूसरी है।

कृष्णावतार में कृष्ण के जन्म से लेकर अन्त तक प्राय: सभी घटनाओं का चित्रण है। परन्तु जितना मन गुरु जी का युद्ध वर्णन में रमा है, उतना शायद अन्य प्रसंगों में नहीं। बाल लीला, गोपी-विरह, रासलीला आदि वर्णन साधारण कोटि के ही हैं। इनमें मौलिकता कुछ नहीं है। ये प्राय: भागवत के दशमस्कन्ध के समानान्तर ही चलते हैं। विरह वर्णन में अन्य कृष्ण चरित्र काव्यों में प्राय: चुप रहने वाले नन्द बाबा की दयनीय दशा का चरित्र अवश्य हिन्दी साहित्य की अद्वितीय निधि बन गई है।

कृष्णावतार का चतुर्थ भाग ९०० छन्दों का वृहद्-युद्ध प्रबन्ध है। सबसे महत्त्वपूर्ण व कला की दृष्टि से उत्तम खण्ड-युद्ध खण्ड ही है। यह भी कहा जा सकता है कि युद्ध खण्ड के लिए ही सम्पूर्ण कृष्णावतार काव्य की रचना की गई। युद्ध प्रबन्ध का प्रारम्भ जरासन्ध के युद्ध-प्रकरण से होता है। इस युद्ध में जरासन्ध के प्रमुख सेनापतियों का कृष्ण से युद्ध होता है और अन्त में सभी कृष्ण के हाथों मारे गये।

कृष्णावतार का यह विस्तृत युद्ध पौराणिक आधार पर खड़ा किया गया काल्पनिक भवन है। पृष्ठभूमि के कुछ पात्र जरासन्ध, कालयमन आदि तो पुराण उल्लिखितहैं. किन्तु इन कुछ पात्रों को लेकर युद्ध का इतना विशाल भवन खड़ा करना तो सम्भव न था, इसलिए कवि ने अनेक काल्पनिक पात्रों की रचना की। "कृष्णावतार की रचना के पीछे कवि का उद्देश्य अन्य कृष्ण-भक्त कवियों की भांति विशुद्ध भक्ति भाव नहीं था। वे तो समाज में आत्म-गौरव का निर्माण एवं उसमें शक्ति संचार करने के

लिए प्राचीन भारतीय इतिहास एवं युगानुकूल आदर्शों की प्रतिष्ठा करना चाहते थे। इस कार्य के लिए उन्हें देश-काल की सीमाओं का भी अतिक्रमण करना पड़ा किन्तु उन्होंने इसकी चिन्ता नहीं की।"[10]

कृष्णावतार के वाद दस पदों में विष्णु के नर व वुद्ध अवतार का वर्णन किया गया है। अन्तिम अवतार कल्कि अवतार का ५८८ छन्दों में विस्तृत वर्णन है। कवि ने इस कथा को चार अध्यायों में विभक्त किया है। प्रथम अध्याय में १६२ छन्दों में कलयुग की पापमय अवस्था का भीषण चित्र खींचा गया है। उसके वाद ब्राह्मण कथा का वर्णन है। ब्राह्मण चण्डी का उपासक है। उसकी पत्नी उसकी विरोधिनी है। अतः शूद्र राजा से शिकायत कर देती है। राजा ब्रह्माण को चण्डी पूजा के दण्डस्वरूप मृत्यु दण्ड देता है तव कल्कि अवतार का जन्म होता है। उसका शूद्र राजा से भीषण युद्ध होता है। अन्त में शूद्र राजा मारा जाता है। दूसरे-तीसरे अध्याय में कवि कल्कि द्वारा पश्चिमी, दक्षिणी व पूर्वी दिशाओं के राज्यों को जीतने का वर्णन करता है। चतुर्थ अध्याय में कल्कि की उत्तर विजय का वर्णन करता है। उसने चीन पर आक्रमण किया। चीन के राजा ने पराजय स्वीकार कर ली व कल्कि का स्वागत किया—

मिलिउ चीन राजा, भए सरब काजा ॥
लइउ संग कै कै, चलिउ अग्र ह्वै कै ॥५४॥

चारों ओर धर्म की चर्चा होने लगी। पाप नष्ट हो गया। लेकिन चारों दिशाओं का राज्य पाकर कल्कि अभिमान से भर गया। उसने दस लाख वीस हजार वर्ष राज्य किया। परन्तु वाद में उसने अकाल पुरुष को भुला दिया। तव अकाल पुरुष ने उसका संहार किया।

तिह तउन को वधु कीन, पुज आप मो कोअ लीन ॥५८७॥

विष्णु के चौवीस अवतारों के वाद ब्रह्मा के सात अवतारों का वर्णन हुआ है। प्रथम चार वाल्मीकि, कश्यप, शुक्र व वृहस्पति की चर्चा को तो १४ छन्दों में ही समाप्त कर दिया है। ब्रह्मा के पांचवें अवतार व्यास का २८४ पदों में वर्णन है। इसके वाद षट् ऋषि महाकवि कालिदास का संक्षिप्त वर्णन है।

ब्रह्मा के सात अवतारों के वाद रुद्र के दो अवतारों दत्तात्रेय व पारसनाथ का वर्णन है। कुछ विद्वान् इस रचना को अधूरी मानते हैं। उनके अनुसार गुरु जी ने रुद्र के गोरखनाथ तक के सभी अवतारों का वर्णन किया है। परन्तु दुर्भाग्यवश वे नष्ट हो गये।

दत्तात्रेय अवतार का चित्रण भी काफी विस्तृत है। इसमें कुल ४९८ छन्द हैं। दत्त घर से साधना के लिए निकल पड़े। लेकिन सत्य प्रकाश के लिए गुरु की आवश्यकता होती है। दत्त ने २४ गुरु धारण किये। चौवीसवां गुरु ज्ञान था। ज्ञान गुरु में ही वाकी सभी गुरु समा गए।

जै एकं के रस भी न ।। तिन चउबिसौं रसि लीन ।।
जिन एक को नहीं बूझ ।। तिह चउबिसौं नहीं सूझ ।।

दत्तात्रेय के बाद ३५८ पद्यों में पारसनाथ अवतार का वर्णन है। पारसनाथ अपने गुणों के कारण अत्यन्त पराक्रमी राजा बन गए। लेकिन सत्ता मद से मदान्ध होकर उन्होंने राजमेध यज्ञ करने की सोची। इसमें एक लाख राजाओं का वध करना पड़ता है। लेकिन उससे भी पहले एक रहस्य जानना आवश्यक था जो अभी राजा पर प्रकट नहीं हुआ था। वह रहस्य महेन्द्रनाथ ने पारसनाथ को बताया। वह रहस्य यह था कि पारसनाथ अविवेक को नहीं जीत सके। पारसनाथ अविवेक से बीस लाख वर्ष तक लड़ता रहा। लेकिन जब अविवेक को जीत नहीं सके तो अग्नि में भस्म हो गया।

८. शस्त्र नाम माला

दृष्टकूट शैली में लिखी हुई गुरु गोबिन्दसिंह जी की शस्त्र नाम माला एक वैचित्र्यपूर्ण रचना है। वास्तव में उस युग में रहस्यवादी साधक अपनी अनुभूति को अभिव्यक्त करने के लिए दृष्टकूट शैली का प्रयोग करते थे। गुरु जी ने शस्त्रों की स्तुति के लिए इसी शैली को अपनाया है। शस्त्र नाम माला १३१८ छन्दों की दीर्घ रचना है। इसे पांच अध्यायों में विभाजित किया गया है। इस सारी रचना में विभिन्न शस्त्रों का ईश्वरीकरण करके अनेक विविध छन्दों में उनकी स्तुति की गई है। वर्णित शस्त्रों की नामावलि इस प्रकार है—

सांग, सिरोही, सैफ, असि, तीर, बन्दूक, शूल, जमदाढ़, खंडा, भंजसा, बरछी, निखंग कटारी, बरछा, छुरी, ढाल, कवच, तलवार, बिछुआ, बांक, बज्र, गुरज, गदा, तुफंग, चाकू, खंजर, छूरा, पाश।

रचना के प्रारम्भ में ही कवि कहता है कि ये अस्त्र-शस्त्र ही मेरे इष्ट देव हैं —

असु कृपान खंडो, खडग तुपक तबर अरु तीर।
सैफ सरोही सैहथी यहै हमारे पीर ।।

दृष्टकूट शैली का एक उदाहरण भी द्रष्टव्य है। कृपाण का वर्णन करते हुए कवि कहता है—

कवच शब्द प्रिथमै कहो अन्त सबद अरि देहु ।।
सभ ही नाम कृपान के जान चतुर जिअ लेहु ।।२८।।

अर्थात् पहले कवच शब्द कहो, फिर उसके साथ अरि शब्द लगा दो तब कृपाण का अर्थबोध होगा।

जमदाढ़ (कटार) का वर्णन कवि इस ढंग से करता है।

उदर सबद प्रिथमै कहो पुनि अरि सबद उचार।

नाम सभै जमदाढ़ के लीनहु सुकवि विचार ॥२६॥

अर्थात् पहले उदर शब्द कहो, फिर अरि शब्द का उच्चारण करो। जो शब्द बनेंगे उससे जमदाढ़ (कटार) का ही बोध होगा।

६. चरित्रोपाख्यान

दशम ग्रन्थ की सबसे दीर्घ रचना और सबसे अधिक विवादास्पद रचना चरित्रोपाख्यान है। चरित्रोपाख्यान एक विशाल कथा संग्रह है। कथाओं की कुल संख्या ४०० के लगभग है। विवाद का आधार कथा संख्या भी है। भाई मनीसिंह के ऐतिहासिक पत्र में इन कथाओं की संख्या ३०३ बताई गई है। विद्वानों का कहना है कि गुरु जी द्वारा संगृहीत कथाओं की संख्या तो ३०३ ही रही होगी बाद में दरबारी कवियों ने उनमें वृद्धि कर दी होगी। पंजाबी के सुप्रसिद्ध आलोचक डॉ० मोहनसिंह इस रचना को मध्यकालीन भारत में जानी जाने वाली सभी पंजाबी और गैर-पंजाबी, भारतीय और गैर भारतीय कथाओं का विश्वकोश कहते हैं।

चरित्रोपाख्यान का कथानक सुदृढ़ नहीं माना जा सकता। कवि ने एक कथा के इर्द-गिर्द बाकी सभी कथाओं का तानाबाना बुनने का केन्द्रीय प्रयास किया है। केन्द्रीय कथा के अनुसार राजा चित्रसिंह के युवापुत्र हनुवंतसिंह के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर विमाता चित्रमती ने काम प्रस्ताव रखा। हनुवंतसिंह के ठुकराने पर विमाता ने राजा चित्रसिंह के सामने राजकुमार के चरित्र पर मिथ्या आरोप लगाया। राजा ने क्रुद्ध होकर राजकुमार को मृत्यु दण्ड दे दिया। परन्तु चतुर मन्त्री ने वास्तविकता जान ली और राजकुमार को बचाने के लिए राजा को प्रतिदिन त्रिया-चरित्र के सम्बन्ध में एक कहानी सुनाने लगा। यह मन्त्री-भूप संवाद लम्बे समय तक चलता रहा। परन्तु रचना में इस संवाद का परिणाम व अन्त नहीं दिखाया गया।

डॉ० हरभजनसिंह ने संकलन की सभी कथाओं को चार वर्गों में रखा है :

१. प्रेम कथाएं, २. शौर्य कथाएं, ३. विनोद कथाएं, और ४. काम-कथाएं।

चरित्रोपाख्यान का अन्त अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसमें महाकाल का दीर्घ दाढ़ से युद्ध-वर्णन है। यही वह प्रसंग है जो इस रचना को दशम ग्रन्थ की मूल चेतना के साथ सम्बन्धित करता है।

"दशम ग्रन्थ के मूल स्वर की चर्चा इस प्रबन्ध में अनेक स्थानों पर की गई है। तत्कालीन पीड़ित, पराधीन और शक्तिहीन समाज को प्राचीन भारतीय ग्रन्थों, वीर प्रसंगों और ईश्वरीय शक्ति का आश्रय लेकर उसे संघर्ष के लिए सन्नद्ध करना दशम ग्रन्थ के रचयिता का मूल हेतु है। वीर भावों को जाग्रत करने के लिए काल और काली शक्ति के स्रोत गुरु गोविन्द सिंह के प्रिय इष्ट हैं। ये दोनों ही शब्द भारतीय जन-मानस में अपने युद्धपूरक, संहारक, विकराल और शक्ति सम्पन्न स्वरूप के कारण

शताब्दियों से गहरे पैंठे हुए थे। गुरु गोविन्द सिंह ने इन्हीं शब्दों को अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए स्वीकार किया। परन्तु इस स्वीकृति में उनका एक वैशिष्ट्य भी है। उन्होंने काल और काली को सामान्य देवता या देवी के स्तर से बहुत ऊपर उठाकर उनमें अपनी कल्पना और अपनी आस्था के परब्रह्म का आरोप किया। यही वह वैशिट्य है जो गुरु गोविन्द सिंह को सर्वसामान्य देवपूजक स्थिति से पृथक् कर देता है।"[११]

१०. चण्डी दी वार

गुरु गोविन्दसिंह द्वारा पंजावी में लिखित ५५ छन्दों की लघु रचना है। इसका कथानक लगभग चण्डी चरित्र 'प्रथम' का पंजावी रूपान्तर मात्र ही है। परन्तु इसके मंगलाचरण का सिक्खों में वहुत महत्त्व है। इसमें प्रथम गुरु नानक देवजी से लेकर नवम् गुरु तेग वहादुरजी तक सभी गुरुओं का भक्ति-भाव से स्मरण किया गया है। उनसे दया, सहायता व अभयदान की याचना की गई है।

११. जफरनामा

जफरनामा गुरु जी का फारसी भाषा में लिखा वह पत्र है जो उन्होंने सन् १७०५ में दिल्ली के वादशाह औरंगजेव को प्रेषित किया था। जफरनामा का आधारभूत वीर रस है। इसमें औरंगजेव को चेतावनी दी गई है कि या तो तुम नेक रास्ते पर चलो नहीं तो तुम्हारा मानमर्दन करने वाला आ पहुंचा है। इसकी भाषा वलवती और गुण से सम्पन्न है। इसकी प्रत्येक द्विपदी कवि के अनन्त आत्मगौरव की वाहिका है।

संदर्भ

१. वाणी गुरु गोविन्दसिंह : स० प्रेम प्रकाशसिंह, पृ० ३६
२. गुरु नानक और उनका काव्य : डॉ० महीपसिंह, पृ० १०२
३. उपनिषदों के समस्त उद्धरण, गीता प्रेस गोरखपुर के 'ईशादि नौ उपनिषद' में से लिये गये हैं।
४. 'कहूं आरवी तोरकी पारसी हो
कहूं पहलवी पुस्तको संस्कृति हो
कहूं देस आरुया कहूं देव वानी
कहूं राजविद्या कहूं राजधानी ।। अकाल स्तुति ।।
५. वाणी गुरु गोविन्दसिंह : स० प्रेम प्रकाशसिंह, पृ० ४६
६. गुरु गोविन्दसिंह का वीर काव्य : स० डॉ० जयभगवान गोयल, पृ० ५

७. गुरु गोविन्दसिंह और उनकी हिन्दी कविता : डॉ० महीपसिंह, पृ० ११५
८. गुरु गोविन्दसिंह का वीर-काव्य : जयभगवान गोयल, पृष्ठ ५६
९. गुरु गोविन्दसिंह और उनकी हिन्दी कविता : डॉ० महीपसिंह, पृ० १४७
१०. वही, पृ० १६६, १६८
११. वही, पृ० २१५-२१६